fgUnh Hkk"kk dk Lo:i o fodkl

BAHINDI-101

Self Learning Material

Directorate of Distance Education

SWAMI VIVEKANAND SUBHARTI UNIVERSITY

MEERUT-250005

UTTAR PRADESH

SIM Module Developed by :

Reviewed by :

-

Assessed by:

Study Material Assessment Committee, as per the SVSU ordinance No. VI (2).

Copyright © Laxmi Publications Pvt Ltd.

No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior permission from the publisher.

Information contained in this book has been published by Laxmi Publications Pvt Ltd and has been obtained by its authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the publisher and its author shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specially disclaim and implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by : Laxmi Publications Pvt Ltd., 113, Golden House, Daryaganj, New Delhi-110 002.
Tel: 43532500, E-mail: info@laxmipublications.com

DEM C—
Typeset at: Printed at:
Edition: 2020

विषय-सूची

ईकाई 1

1. हिंदी की उत्पत्ति, हिंदी की मूल आकार भाषाएँ तथा विभिन्न विभाषाओं का विकास 1-14

1.1. उद्देश्य (Objectives) 1
1.2. प्रस्तावना (Introduction) 1
1.3. भाषा की उत्पत्ति 2
1.4. हिंदी की मूल आकार भाषाएँ एवं विभिन्न विभाषाओं का विकास 4
1.5. हिंदी, हिंदुई, हिंदुस्तानी, उर्दू 6
1.6. 'हिंदी' नाम और उसके विभिन्न रूप 7
1.7. हिंदी का विकास 8
1.8. सारांश (Summary) 12
1.9. शब्दकोश (Keywords) 13
1.10. अभ्यास प्रश्न (Review Questions) 13
1.11. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings) 14

2. हिंदी भाषा के विभिन्न रूप–बोलचाल की भाषा, रचनात्मक राष्ट्रभाषा, राजभाषा, संपर्क भाषा, संचार भाषा 15-34

2.1. उद्देश्य (Objectives) 15
2.2. प्रस्तावना (Introduction) 16
2.3. हिंदी भाषा 16
2.4. हिन्दी एवं उर्दू 17
2.5. परिवार 17
2.6. हिन्दी का निर्माण-काल 17
2.7. इतिहास क्रम 17
2.8. हिन्दी के विकास की अन्य विशेषताएँ 18
2.9. बोलचाल की भाषा 18
2.10. रचनात्मक भाषा 19
2.11. हिन्दी भाषा के विविध रूप 20
2.12. शिक्षा का माध्यम हिन्दी भाषा 26
2.13. विश्व में भाषा का महत्त्व 28
2.14. सम्पर्क भाषा 28
2.15. हिन्दी और जनसंचार भाषा 31
2.16. राजभाषा हिन्दी 32
2.17. राष्ट्रभाषा 32
2.18. सारांश (Summary) 33
2.19. शब्दकोश (Keywords) 33
2.20. अभ्यास प्रश्न (Review Questions) 33
2.21. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings) 34

ईकाई 2

3. हिंदी का शब्द भंडार **35-43**

3.1. उद्देश्य (Objectives) 35
3.2. प्रस्तावना (Introduction) 35
3.3. शब्द भंडार 36
3.4. स्रोत (उत्पत्ति) के अनुसार शब्द-भेद 38
3.5. सारांश (Summary) 40
3.6. शब्दकोश (Keywords) 40
3.7. अभ्यास प्रश्न (Review Questions) 41
3.8. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings) 43

4. हिंदी साहित्य का इतिहास **44-62**

4.1. उद्देश्य (Objectives) 44
4.2. प्रस्तावना (Introduction) 44
4.3. इतिहास : अर्थ एवं स्वरूप 45
4.4. 'इतिहास-दर्शन' की रूपरेखा 47
4.5. साहित्य का इतिहास-दर्शन 50
4.6. साहित्येतिहास और साहित्यालोचन 51
4.7. हिंदी-साहित्येतिहास की परंपरा 52
4.8. हिंदी-साहित्येतिहास के आधार 59
4.9. सारांश (Summary) 60
4.10. शब्दकोश (Keywords) 61
4.11. अभ्यास प्रश्न (Review Questions) 61
4.12. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings) 62

ईकाई 3

5. आदिकाल की सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि **63-67**

5.1. उद्देश्य (Objectives) 63
5.2. प्रस्तावना (Introduction) 63
5.3. आदिकालीन साहित्य : परिस्थितियाँ 63
5.4. सारांश (Summary) 66
5.5. शब्दकोश (Keywords) 66
5.6. अभ्यास प्रश्न (Review Questions) 67
5.7. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings) 67

6. प्रमुख युग-प्रसूतियाँ : विशिष्ट रचनाकार एवं उनकी प्रतिनिधि कृतियाँ **68-75**

6.1. उद्देश्य (Objectives) 68
6.2. प्रस्तावना (Introduction) 68
6.3. अमीर खुसरो की कृतियाँ 69
6.4. चंदबरदाई-जीवन परिचय 71
6.5. विद्यापति-परिचय 72
6.6. अब्दुल रहीम-परिचय 74

6.7. सारांश (Summary) 75
6.8. शब्दकोश (Keywords) 75
6.9. अभ्यास प्रश्न (Review Questions) 75
6.10. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings) 75

7. आदिकालीन साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ 76-80

7.1. उद्देश्य (Objectives) 76
7.2. प्रस्तावना (Introduction) 76
7.3. आदिकालीन साहित्य में उपलब्ध होने वाली प्रमुख प्रवृत्तियाँ/विशेषताएँ 76
7.4. सारांश (Summary) 79
7.5. शब्दकोश (Keywords) 79
7.6. अभ्यास प्रश्न (Review Questions) 79
7.7. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings) 80

8. पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) : सामाजिक, राजनैतिक,सांस्कृतिक पृष्ठभूमि प्रमुख युग प्रसूतियाँ, विभिन्न रचनाओं और उनकी प्रतिनिधि कृतियाँ, साहित्यिक विशेषताएँ 81-95

8.1. उद्देश्य (Objectives) 81
8.2. प्रस्तावना (Introduction) 81
8.3. पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) 81
8.4. सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि 83
8.5. साहित्यिक विशेषताएँ 92
8.6. सारांश (Summary) 94
8.7. शब्दकोश (Keywords) 94
8.8. अभ्यास प्रश्न (Review Questions) 94
8.9. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings) 95

9. विशिष्ट रचनाकार एवं उनकी प्रतिनिधि कृतियाँ 96-111

9.1. उद्देश्य (Objectives) 96
9.2. प्रस्तावना (Introduction) 96
9.3. प्रमुख काव्य प्रवृत्तियाँ 96
9.4. सारांश (Summary) 110
9.5. शब्दकोश (Keywords) 110
9.6. अभ्यास प्रश्न (Review Questions) 110
9.7. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings) 111

ईकाई 4

10. रीतिकालीन (उत्तर मध्यकालीन) कवियों का जीवन–प्रमुख कवि एवं उनकी काव्यगत विशेषताएँ 112-126

10.1. उद्देश्य (Objectives) 112
10.2. प्रस्तावना (Introduction) 112
10.3. रीतिकाल के प्रमुख कवि एवं उनकी काव्यगत विशेषताएँ 113
10.4. सारांश (Summary) 125
10.5. शब्दकोश (Keywords) 125
10.6. अभ्यास प्रश्न (Review Questions) 126
10.7. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings) 126

ch , fgUnh iFke o’k
lseLVj iFke

fgUnh Hkk’kk dk Lo:i o fodkl **(BAHINDI-101)**

IkkB;de	
bdkbZ&1	• हिन्दी की उत्पत्ति, हिन्दी की मूल आकार भाषाएँ तथा विभिन्न विभाषाओं का विकास • हिन्दी भाषा के विभिन्न रूप – बोलचाल की भाषा, रचनात्मक भाषा, राष्ट्रभाषा, राजभाषा, सम्पर्क भाषा, संचार भाषा
bdkbZ&2	• हिन्दी का शब्द भंडार – तत्सम, तदभव्, देशज, आगत शब्दावली • हिन्दी साहित्य का इतिहास
bdkbZ&3	• आदिकाल, और पूर्वमध्यकाल की सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, प्रमुख युग–प्रसूतियॉं, विशिष्ट रचनाकार और उनकी प्रतिनिधि कृतियॉं, साहित्यिक विशेषताएँ।
bdkbZ&4	• उत्तरमध्यकाल और आधुनिक काल की सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, प्रमुख युग–प्रसूतियॉं, विशिष्ट रचनाकार और उनकी प्रतिनिधि कृतियॉं, साहित्यिक विशेषताएँ।
IkkB;iLrd&	• हिन्दी भाषा का उदभव और विकास – गुणांनद जुयाल • हिन्दी भाषा – कैलाश चंद्र भाटिया • स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी साहित्य – बेचन • हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – राजकुमार वर्मा

इकाई-1
(Unit–1)

नोट

1. हिंदी की उत्पत्ति, हिंदी की मूल आकार भाषाएँ तथा विभिन्न विभाषाओं का विकास

रूपरेखा

1.1 उद्देश्य (Objectives)
1.2 प्रस्तावना (Introduction)
1.3 भाषा की उत्पत्ति
1.4 हिंदी की मूल आकार भाषाएँ एवं विभिन्न विभाषाओं का विकास
1.5 हिंदी, हिंदुई, हिंदुस्तानी, उर्दू
1.6 'हिंदी' नाम और उसके विभिन्न रूप
1.7 हिंदी का विकास
1.8 सारांश (Summary)
1.9 शब्दकोश (Keywords)
1.10 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
1.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

1.1. उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- उपभाषाएँ एवं बोलियों को जानने में।
- हिंदी का विकास जानने में।

1.2. प्रस्तावना (Introduction)

'हिंदी' जिस भाषा-धारा के विशिष्ट दैशिक और कालिक रूप का नाम है, भारत में उसका प्राचीनतम रूप संस्कृत है। संस्कृत का काल मोटे रूप से 1500 ई.पू. से 500 ई.पू. तक माना जाता है। इस काल में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। उस बोलचाल की भाषा का ही शिष्ट और मानक रूप संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत भाषा के भी दो रूप मिलते हैं। एक भाषा वैदिक संस्कृत है जिसमें वैदिक वाङ्मय की रचना हुई है, और दूसरी लौकिक या क्लासिकल संस्कृत है जिसमें वाल्मीकि, व्यास, भास, अश्वघोष, कालिदास, माघ आदि की रचनाएँ हैं। इस संस्कृत काल के अंत तक मानक या परिनिष्ठित भाषा तो एक थी, किंतु क्षेत्रीय तीन बोलियाँ विकसित हो चली थीं। जिन्हें पश्चिमोत्तरी, मध्यदेशी तथा पूर्वी नाम से अभिहित किया जा सकता है।

संस्कृतकालीन बोलचाल की भाषा विकसित होते-होते 500 ई.पू. के बाद प्रवृत्तित: काफी बदल गयी, जिसे 'पालि' की संज्ञा दी गई। इसका काल 500 ई.पू. से पहली ईसवी तक है। बौद्ध ग्रंथों में पालि का

जो रूप मिलता है वह इस बोलचाल की भाषा का ही शिष्ट और मानक रूप था। इस काल में क्षेत्रीय बोलियों की संख्या चार हो गई थी। पश्चिमोत्तरी, मध्यदेशी, पूर्वी और दक्षिणी।

पहली ईसवी तक आते-आते यह बोलचाल की भाषा और परिवर्तित हुई तथा पहली ई. से 500 ई. तक का इसका रूप 'प्राकृत' नाम से अभिहित किया गया। इस काल में क्षेत्रीय बोलियाँ कई थीं, जिनमें मुख्य शौरसेनी, पैशाची ब्राचड़, महाराष्ट्री, मागधी और अर्धमागधी थीं।

नोट

प्राकृतों से ही विभिन्न क्षेत्रीय अपभ्रंशों का विकास हुआ। अपभ्रंश भाषा का काल मोटे रूप से 500 ई. से 1000 ई. तक है। आज के प्राप्त अपभ्रंश-साहित्य में मुख्यत: पश्चिमी और पूर्वी दो ही भाषा-रूप मिलते हैं, किंतु प्राकृत के मुख्यत: पाँच क्षेत्रीय रूपों तथा आज की दस (लहंदा, पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, हिंदी, उड़िया, बांग्ला, असमिया) आर्यभाषाओं के बीच की अपभ्रंश रूप में प्राप्त कड़ी के क्षेत्रीय रूपों की संख्या छह और दस के बीच में ही होगी; इससे कम नहीं हो सकती। इससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि अपभ्रंश के सभी क्षेत्रीय रूपों का अपभ्रंश-साहित्य में प्रयोग नहीं हुआ। यदि विभिन्न प्राकृतों से विकसित अपभ्रंशों को किसी अन्य नाम के अभाव में प्राकृत नामों से ही अभिहित करें तो आधुनिक आर्यभाषाओं का जन्म अपभ्रंश के विभिन्न क्षेत्रीय रूपों से इस प्रकार माना जा सकता है:

अपभ्रंश	*आधुनिक भाषाएँ तथा उपभाषाएँ*
शौरसेनी	पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, पहाड़ी, गुजराती
पैशाची	लहंदा, पंजाबी
ब्राचड़	सिन्धी
महाराष्ट्री	मराठी
मागधी	बिहारी, बांग्ला, उड़िया, असमिया
अर्द्धमागधी	पूर्वी हिंदी

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि हिंदी भाषा का उद्‌भव अपभ्रंश के शौरसेनी, अर्धमागधी और मागधी रूपों से हुआ है।

1.3. भाषा की उत्पत्ति

प्राणि-जगत् में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो भाषा का व्यवहार करता है। इसका कारण क्या है?

अध्यात्मवादी विचारक मानते हैं कि भाषा ईश्वरकृत है। मनुष्य में यह क्षमता नहीं थी कि वह भाषा रचता। धर्म-विशेष के अनुयायी अपनी भाषा को देववाणी कहते रहे हैं। यह देववाणी ही क्रमश: मानव-भाषा बनी। कुछ यहूदी और ईसाई विचारकों का मत रहा है कि जिस भाषा में मानव जाति के, पिता-माता आदम और हौवा बातें करतें थे। उसी से संसार की समस्त भाषाएँ उत्पन्न हुई हैं। भाषा-वैज्ञानिकों में ईश्वरकृत मूल भाषा की स्थापना का खंडन-मंडन अब अनावश्यक समझा जाता है। जैसे भौतिक विज्ञान में इस स्थापना का खंडन अनावश्यक हो गया है कि मेघों से इन्द्र पानी बरसाता है, वैसे ही भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में उपर्युक्त स्थापना का खंडन भी अनावश्यक है। साथ ही जैसे भौतिक विज्ञान भी जब-तब अध्यात्मवाद से प्रभावित दिखाई देता है, वैसे ही भाषा-विज्ञान पर भी अध्यात्मवाद का प्रभाव देखा जा सकता है। अध्यात्मवाद अब आत्मा की ही बात करे, यह आवश्यक नहीं है; हेगल की तरह वह बुद्धि और विचार की बात करता है। यह संसार क्या है? विचार का ही मूर्त रूप है। पदार्थ क्या है? चिन्तन का ही घनीभूत रूप है। इसी तरह भाषा की रचना क्यों हुई? इसलिए हुई कि मनुष्य में बुद्धि है, मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है।

इस तरह का मत भाषा-विज्ञानियों में ही नहीं, शरीर विज्ञानियों से भी प्रचलित है। वी. ई नीगस इंग्लैण्ड के एक प्रसिद्ध शरीर वैज्ञानिक हैं। उन्होंने घोषयंत्र (लैरिन्क्स) के विकास पर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है। पशुओं द्वारा ध्वनि-संकेतों के प्रयोग की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है:

"बहुत से पशु ऐसी ध्वनियाँ करते हैं जिनसे भाषा का विशद् शब्द भंडार बन सके, लेकिन उनमें बुद्धि नहीं है कि वे इस क्षमता से लाभ उठायें जैसे कि मनुष्य उठाता है।" इस धारणा के अनुसार मनुष्य की बुद्धि उसके विकास का परिणाम नहीं है, वरन् उसका विकास उसकी बुद्धि का परिणाम है। भाषा के प्रयोग द्वारा उसने बुद्धि अर्जित और परिष्कृत नहीं की, वरन् अपनी बौद्धिक योग्यता के कारण वह भाषा की रचना कर सका। आत्म-रक्षा, आहार-प्राप्ति, मैथुन, संतान-रक्षा, यूथ सम्पर्क आदि की आवश्यकताएँ मनुष्य के लिए वैसे ही रही हैं जैसे पशुओं के लिए। ध्वनि-संकेतों से काम लेने के आदि कारण मनुष्य के लिए वही हैं जो पशु के लिए। समृद्ध भाषा की रचना हो जाने के बाद भी मनुष्य अनेक ध्वनि-संकेतों से काम लेता है जिन्हें सदा भाषा के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता। सड़क पर किसी सुन्दरी को जाते देखकर मनचले युवक सीटी बजाते हैं। उनकी यह क्रिया किसी देश या युग तक सीमित नहीं है। सीटी बजाना एक सनातन और अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि-संकेत है। बम्बई में किसी को बुलाने के लिए लोग सी-की आवाज करते हैं। यह एक तरह की अस्पष्ट ध्वनि है। संकेत सुनने वाले इधर-उधर देखकर जानने का प्रयत्न करते हैं, कोई उन्हें तो नहीं बुला रहा। गाँव के लोग किसी को बुलाते हुए ए, हो, ओ, आदि शब्द करते हैं। ये शब्द भाषा के सार्थक शब्द न होकर सार्थक ध्वनि-संकेत मात्र है। अंग्रेजों का 'हलो' शब्द इसी प्रकार की ध्वनि है जो भारत में अंग्रेजी पढ़े-लिखों का आम सम्बोधन संकेत है। टेलीफोन करने वाले इस 'हलो' के बिना किसी से बातचीत ही नहीं पाते। रणक्षेत्र में सैनिक एक-दूसरे को उत्साहित करने के लिए अनेक सार्थक और निरर्थक शब्द करते हैं। इस ध्वनि-क्रिया का उद्देश्य वहीं होता है जो आक्रमण के समय पशु-यूथ का होता है। जलूस में चलते हुए लोग कभी-कभी ऐसे नारे लगाते हैं जिनका अर्थ वे खुद नहीं समझते। 'मैला आंचल' के लेखक को साक्षी मानें तो लोग इनकलाब को किलकिलाब और जिन्दाबाद को जिन्दाबाघ भी कह सकते हैं। लेकिन इससे उनके उत्साह में कमी नहीं होती। 'किलकिलाब जिन्दाबाघ' निरर्थक शब्दावली होकर भी चहचहाने से खतरे या आनन्द के बोध की बात की थी। चहचहाहट के स्वर-व्यंजन एक ही होंगे, लेकिन उदात्त-अनुदात्त भेद से उनकी व्यंजना भिन्न हो जाती है। भय से मनुष्य की घिग्घी बँध जाती है, तो उसके स्वर से उसकी परिस्थिति को समझने में कठिनाई नहीं होती। क्रोध, भय, घृणा, प्रीति आदि के भाव, शब्दों के अलावा केवल स्वर की विशेषता से पहचाने जा सकते हैं। मनुष्य और पशु से इस प्रकार की स्वर-भिन्नता द्वारा भावव्यंजना की यह प्रणाली सामान्य है।

शब्द और अर्थ का मूर्त सम्बन्ध यह है कि शब्द द्वारा हमें किसी पदार्थ या कर्म का बोध होता है जिससे वह ध्वनि-संकेत सम्बद्ध हो गया है। शब्द स्वयं वह पदार्थ नहीं है; वह किसी की ओर संकेत भर करता है। इसलिए हम उसे बाधित उत्तेजक कहते हैं। जैसे 'माँ' शब्द कहने पर हमें अपनी जन्मदात्री का बोध होता है; अन्य लोगों को यही बोध 'ममी' कहने से होता है। माँ या ममी की ध्वनियों में कोई ऐसा गुण नहीं है जो जननी के गुणों का प्रतिबिम्ब हो। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ध्वनि और उससे सम्बद्ध किये हुए पदार्थ का ही सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध अटूट और अविच्छेद्य नहीं है। एक भाषा से दूसरी भाषा में किसी रचना का अनुवाद करते समय संक्रमण की दशा में विचार की स्थिति कहाँ होती है? यदि शब्द और अर्थ निरपेक्ष रूप में अभिन्न हों, तो एक विचार को एक से अधिक भाषा में प्रकट ही न किया जा सके। अनुवाद करते समय दोनों भाषाओं की समान शब्दावली जिन वस्तुओं की ओर संकेत करती है वे वस्तुएँ और उनसे हमारे स्नायुतंत्र का सम्बन्ध ही वह मूर्त आधार है जिसके कारण एक भाषा का सहारा छोड़ते हुए दूसरी भाषा की शब्दावली तक पहुँचने की अवधि में 'अर्थ' लुप्त नहीं हो जाता।

शब्द को हम बाधित उत्तेजक मानते हैं किन्तु वह हमारे लिए संकेत मात्र नहीं रह जाता। हमारे लिए सापेक्ष रूप से उसकी एक स्वतंत्र सत्ता कायम हो जाती है। भाषा हमारी संस्कृति का अंग है। इसलिए भाषा के विभिन्न तत्व बाधित उत्तेजक मात्र न रहकर सहज उत्तेजक भी बन जाते हैं। हम अपनी भाषा के शब्दों को इसीलिए प्यार नहीं करते कि वे विभिन्न पदार्थों और व्यापारों की ओर संकेत करते हैं, वरन् इसलिए भी—और मुख्यत: इसीलिए—कि वे हमारे हैं, उनसे हमारा और हमारे पूर्वजों का सम्बन्ध रहा है। इसलिए हिन्दुस्तानी बच्चे जब माँ को मम्मी कहते हैं, जो हमें बुरा लगता है, यद्यपि संकेतित पदार्थ में कोई अन्तर नहीं आता।

1.4. हिंदी की मूल आकार भाषाएँ एवं विभिन्न विभाषाओं का विकास

नोट

हिंदी भाषा का क्षेत्र हिमाचल प्रदेश, पंजाब का कुछ भाग, हरियाणा, राजस्थान, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा बिहार हैं, जिसे हिंदी (भाषी) प्रदेश कहते हैं। इस पूरे क्षेत्र में हिंदी की पांच उपभाषाएँ हैं, जिनके अंतर्गत मुख्यत: 10 बोलियाँ हैं:

भाषा	उपभाषाएँ		बोलियाँ	
हिंदी	1.	पश्चिमी हिंदी	1.	खड़ी बोली या कौरवी,
			2.	ब्रजभाषा,
			3.	हरियाणी,
			4.	बुन्देली,
			5.	कन्नौजी।
	2.	पूर्वी हिंदी	1.	अवधी,
			2.	बघेली,
			3.	छत्तीसगढ़ी।
	3.	राजस्थानी	1.	पश्चिमी राजस्थानी (मारवाड़ी),
			2.	पूर्वी राजस्थानी (जयपुरी),
			3.	उत्तरी राजस्थानी (मेवाती),
			4.	दक्षिणी राजस्थानी (मालवी)।
	4.	पहाड़ी	1.	पश्चिमी पहाड़ी,
			2.	मध्यवर्ती पहाड़ी
				(कुमाऊँनी-गढ़वाली)।
	5.	बिहारी	1.	भोजपुरी,
			2.	मगही,
			3.	मैथिली।

खड़ी बोली: 'खड़ी बोली' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है: एक तो साहित्यिक हिंदी खड़ी बोली के अर्थ में और दूसरे दिल्ली-मेरठ के आसपास की लोक-बोली के अर्थ में। यहाँ दूसरे अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। इसी अर्थ में 'कौरवी' का भी प्रयोग कुछ लोग करते हैं। 'खड़ी बोली' में 'खड़ी' शब्द का अर्थ विवादास्पद है। कुछ लोगों ने 'खड़ी' का अर्थ 'खरी' (pure) अर्थात् शुद्ध माना है, तो दूसरों ने 'खड़ी' (standing)। कुछ अन्य लोगों ने इसका संबंध खड़ी बोली में अधिकता से प्रयुक्त खड़ी पायी 'ा' (गया, बड़ा, का) तथा उसके ध्वन्यात्मक प्रभाव कर्कशता से जोड़ा है। यों अभी तक यह प्रश्न अनिश्चित है। खड़ी बोली या कौरवी का उद्‌भव शौरसेनी अपभ्रंश के उत्तरी रूप से हुआ है तथा इसका क्षेत्र देहरादून का मैदानी भाग, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, दिल्ली का कुछ भाग, बिजनौर, रामपुर तथा मुरादाबाद है। लोक-साहित्य की दृष्टि से खड़ी बोली बहुत संपन्न है और इसमें पवाड़ा, नाटक, लोककथा, लोकगीत आदि पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इनका काफी अंश प्रकाशित भी हो चुका है। हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी तथा दक्खिनी एक सीमा तक खड़ी बोली पर आधारित हैं।

ब्रजभाषा: ब्रज का पुराना अर्थ 'पशुओं या गौओं का समूह' या 'चरागाह' आदि है। पशुपालन के प्राधान्य के कारण यह क्षेत्र ब्रज कहलाया और इसी आधार पर इसकी बोली ब्रजभाषा कहलायी। इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश के मध्यवर्ती रूप से हुआ है। ब्रजभाषा आगरा, मथुरा, अलीगढ़, धौलपुर, मैनपुरी, एटा, बदायूं, बरेली तथा आसपास के क्षेत्रों में बोली जाती है। साहित्य और लोक-साहित्य दोनों ही दृष्टियों से ब्रजभाषा बहुत संपन्न है। हिंदी प्रदेश के बाहर भी भारत के अनेक क्षेत्रों में ब्रजभाषा में साहित्य-रचना होती रही है। सूरदास, तुलसीदास, नंददास, रहीम, रसखान, बिहारी, देव, रत्नाकर आदि इसके प्रमुख कवि हैं।

हरियाणवी: 'हरियाना' शब्द की व्युत्पत्ति विवादास्पद है। हरि+यान (कृष्ण का यान इधर से ही द्वारका गया था), हरि+अरण्य (हरावन) तथा अहीर+आना (राजपूताना, तिलंगाना की तरह) आदि कई मत दिये गये हैं, किंतु कोई भी सर्वमान्य नहीं है। हरियाणी का विकास उत्तरी शौरसेनी अपभ्रंश के पश्चिमी रूप से हुआ है। खड़ी बोली, अहीरवाटी, मारवाड़ी, पंजाबी से घिरी इस बोली को कुछ लोग खड़ी बोली का पंजाबी से प्रभावित रूप मानते हैं। इसका क्षेत्र मोटे रूप से हरियाणा तथा दिल्ली का देहाती भाग है। हरियाणवी में केवल लोक-साहित्य है, जिसका कुछ अंश मुद्रित भी है।

बुन्देली : बुन्देले राजपूतों के कारण मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश की सीमारेखा के झांसी, छतरपुर, सागर आदि तथा आसपास के भाग को बुन्देलखंड कहते हैं। वहीं की बोली बुन्देली या बुन्देलखंडी है। इसका क्षेत्र झांसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, ओरछा, सागर, नृसिंहपुर, सिवनी, होशंगाबाद तथा आसपास का क्षेत्र है। बुन्देली का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। बुन्देली में लोक-साहित्य काफी है, जिसमें ईसुरी के फाग बड़े प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि हिंदी प्रदेश की प्रसिद्ध लोकगाथा 'आल्हा', जिसे हिंदी-साहित्य में भी स्थान मिला है, मूलत: बुन्देली की एक उपबोली बनाफरी में लिखा गया था।

कन्नौजी : कन्नौज (संस्कृत कान्यकुब्ज) इस बोली का केंद्र है, अत: इसका नाम कन्नौजी पड़ा है। यह इटावा, फर्रूखाबाद, शाहजहांपुर, कानपुर, हरदोई, पीलीभीत आदि में बोली जाती है। कन्नौजी भी शौरसेनी अपभ्रंश से ही निकली है। यह ब्रजभाषा से इतनी अधिक समान है कि कुछ लोग इसे ब्रजभाषा की ही एक उपबोली मानते हैं। कन्नौजी में केवल लोक-साहित्य मिलता है जिसमें से कुछ अंश प्रकाशित भी हो चुका है।

अवधी : इस बोली का केंद्र अयोध्या है। 'अयोध्या' का ही विकसित रूप 'अवध' है जिससे 'अवधी' शब्द बना है। इसके उद्भव के संबंध में विवाद है। अधिकांश विद्वान इसका संबंध अर्धमागधी अपभ्रंश से मानते हैं, किंतु कुछ लोग इससे पालि की समानता के आधार पर इस मत को नहीं मानते। अवधी का क्षेत्र लखनऊ, इलाहाबाद, फतेहपुर, मिर्जापुर (अंशत:), उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, फैजाबाद, गोंडा, बस्ती, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी आदि है। अवधी में साहित्य तथा लोक-साहित्य दोनों ही पर्याप्त मात्रा में हैं। इसके प्रसिद्ध कवि मुल्ला दाऊद, कुतुबन, जायसी, तुलसीदास, उसमान, सबलसिंह आदि हैं।

बघेली : बघेले राजपूतों के आधार पर रीवा तथा आसपास का इलाका बघेलखंड कहलाता है और वहाँ की बोली को बघेलखंडी या बघेली कहते हैं। बघेली का उद्भव अर्धमागधी अपभ्रंश के ही एक क्षेत्रीय रूप से हुआ है। यद्यपि जनमत इसे अलग बोली मानता है, किंतु भाषावैज्ञानिक स्तर पर यह अवधी की ही एक उपबोली ज्ञात होती है और इसे दक्षिणी अवधी कह सकते हैं। इसका क्षेत्र रीवां, नागौद, शहडोल, सतना, महर तथा आसपास का क्षेत्र है। कुछ अपवादों को छोड़कर बघेली में केवल लोक-साहित्य है।

छत्तीसगढ़ी : मुख्य क्षेत्र छत्तीसगढ़ होने के कारण इसका नाम छत्तीसगढ़ी पड़ा है। अर्धमागधी अपभ्रंश के दक्षिणी रूप से इसका विकास हुआ है। इसका क्षेत्र सरगुजा, कौरिया, बिलासपुर, रायगढ़, खैरागढ़, रायपुर, दुर्ग, नन्दगांव, काकेर आदि हैं। छत्तीसगढ़ी में भी लोक-साहित्य है।

पश्चिमी राजस्थानी : राजस्थानी का यह रूप पश्चिमी राजस्थान अर्थात् जोधपुर, अजमेर, किशनगढ़, मेवाड़, सिरोही, जैसलमेर, बीकानेर आदि में बोला जाता है। इसे मारवाड़ी भी कहते हैं। शौरसेनी अपभ्रंश से इसका विकास हुआ है। मारवाड़ी में साहित्य तथा लोक-साहित्य दोनों ही पर्याप्त मात्रा में है। मीरा के पद इसी में हैं।

नोट

उत्तरी राजस्थानी : उत्तरी राजस्थान में इसका क्षेत्र अलवर, गुड़गांव, भरतपुर तथा आसपास है। मेओ जाति के इलाके मेवात के नाम पर इसे 'मेवाती' भी कहते हैं। इसकी एक मिश्रित बोली अहीरवाटी है जो गुड़गांव, दिल्ली तथा करनाल के पश्चिमी क्षेत्रों में बोली जाती है। इस पर हरियाणवी का बहुत प्रभाव है। मेवाती में केवल लोक-साहित्य है। उत्तरी राजस्थानी का उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है।

पूर्वी राजस्थानी : राजस्थान के पूर्वी भाग में जयपुर, अजमेर, किशनगढ़ आदि में यह बोली जाती है। इसकी प्रतिनिधि बोली जयपुरी है, जिसका केंद्र जयपुर है। जयपुरी को ढूंढाणी भी कहते हैं, क्योंकि इस क्षेत्र का नाम ढूंढाण है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में केवल लोक-साहित्य है।

दक्षिणी राजस्थानी : इंदौर, उज्जैन, देवास, रतलाम, भोपाल, होशंगाबाद तथा इनके आसपास इसका क्षेत्र है। इसकी प्रतिनिधि बोली मालवी है, जिसका मुख्य क्षेत्र मालवा है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में कुछ साहित्य तथा पर्याप्त लोकसाहित्य है।

पश्चिमी पहाड़ी : जौनसार, सिरमौर, शिमला, मंडी, चंबा तथा आसपास इसका क्षेत्र है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में केवल लोक-साहित्य है।

मध्यवर्ती पहाड़ी : शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली का क्षेत्र गढ़वाल, कुमाऊँ तथा आसपास का कुछ क्षेत्र है। वस्तुत: यह गढ़वाली और कुमाऊँनी इन दो बोलियों का ही सामूहिक नाम है। इन बोलियों में लोक-साहित्य तो पर्याप्त मात्रा में है, साथ ही कुछ साहित्य भी है।

भोजपुरी : बिहार के शाहाबाद जिले के भोजपुर गांव के नाम के आधार पर इस बोली का नाम 'भोजपुरी' पड़ा है। मागधी अपभ्रंश के पश्चिमी रूप से विकसित इस बोली का क्षेत्र बनारस, जौनपुर, मिर्जापुर, गाज़ीपुर, बलिया, गोरखपुर, देवरिया, आजमगढ़, बस्ती, शाहाबाद, चंपारन, सारन तथा आसपास का कुछ क्षेत्र है। हिंदी-प्रदेश की बोलियों में भोजपुरी बोलने वाले सबसे अधिक हैं। भोजपुरी में मुख्यत: लोक-साहित्य ही मिलता है, शिष्ट साहित्य बहुत कम है। भारतेन्दु, प्रेमचंद, प्रसाद आदि इसी क्षेत्र के रहे हैं। किंतु साहित्य में इन्होंने इसका प्रयोग नहीं किया।

मगही : संस्कृत 'मगध' से विकसित शब्द 'मगह' पर इसका नाम आधारित है। मागधी अपभ्रंश से विकसित यह बोली पटना, गया, पलामू, हजारीबाग, मुंगेर, भागलपुर तथा इनके आसपास बोली जाती है। इसमें लोक-साहित्य काफी है। कुछ ललित साहित्य भी है।

मैथिली : मागधी अपभ्रंश के मध्यवर्ती रूप से विकसित यह बोली हिंदी और बांग्ला क्षेत्र की संधि पर मिथिला में बोली जाती है। दरभंगा, मुजफ्फरपुर, पूर्णिया तथा मुंगेर आदि में इसका क्षेत्र है। लोक-साहित्य की दृष्टि से मैथिली बहुत संपन्न है, साथ ही इसमें साहित्य-रचना अत्यंत प्राचीनकाल से होती चली आयी है। हिंदी-साहित्य को विद्यापति जैसे रससिद्ध कवि देने का श्रेय मैथिली को ही है। इनके अतिरिक्त गोविन्ददास, रणजीतलाल, हरिमोहन झा आदि भी इनके अच्छे साहित्यकार हैं।

1.5. हिंदी, हिंदुई, हिंदुस्तानी, उर्दू

पीछे यह संकेत किया गया है कि 'खड़ी बोली' नाम का एक प्रयोग साहित्यिक हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी आदि की आधार-भाषा या आज की साहित्यिक हिंदी के लिए भी होता है। वस्तुत: आज हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी नामों का प्रयोग जिन भाषा-रूपों के लिए होता है, व्याकरणिक स्तर पर वे प्राय: एक ही हैं और उनकी आधार-भाषा वह मिश्रित बोली है जो मूलत: कौरवी, पंजाबी, ब्रज आदि के योग से बनी होगी। आज इस खड़ी बोली में जब बोलचाल के शब्दों (आधारभूत शब्दावली, बहुप्रचलित तद्भव शब्द, सरल बहुप्रचलित संस्कृत शब्द तथा सरल बहुप्रचलित अरबी, फारसी, तुर्की शब्द) का ही प्रयोग होता है तो उसे बोलचाल की हिंदी या हिंदुस्तानी कहते हैं; उन शब्दों के साथ ही जब संस्कृत के अल्प प्रचलित अत: कठिन तत्सम शब्दों का भी काफी प्रयोग होता है तो उसे हिंदी या साहित्यिक हिंदी कहते हैं, और जब उन शब्दों के साथ अरबी, फारसी, तुर्की के अल्पप्रचलित अत: कठिन शब्दों का बहुत प्रयोग होने लगता है तो उसे उर्दू कहते हैं। इस तरह खड़ी बोली की या सामान्य हिंदी की ये तीन शैलियाँ हैं।

'हिंदुई' शब्द 'हिंदु + ई' से बना है। हिन्दवी, हिंदुई या हिंदवी का प्रयोग प्राचीन हिंदी के लिए काफी पहले से मिलता है। तेरहवीं सदी में औफी और अमीर खुसरो ने इसका प्रयोग किया है। 'खालिक बारी' में 'हिंदी' और 'हिंदवी' दोनों का प्रयोग एक ही भाषा के लिए हुआ है किंतु हिंदी का प्रयोग केवल पांच बार है, जबकि हिंदवी का तीस बार। इसका अर्थ यह हुआ कि पहले 'हिंदी' की तुलना में 'हिंदवी' नाम ज्यादा प्रचलित था, धीरे-धीरे 'हिंदवी' नाम उस भाषा के लिए सीमित हो गया जिसमें संस्कृत के शब्द अपेक्षाकृत अधिक थे; और 'हिंदुस्तानी' उस भाषा को कहने लगे जिसमें अरबी-फारसी के शब्द ज्यादा थे। 'गासां द तासी' के इतिहास में 'हिंदुई' तथा 'हिंदुस्तानी' नाम ठीक इसी अर्थ में आये हैं। अब प्रायः लोग केवल 'दक्खिनी' या दक्खिनी तथा उसके पहले के उत्तर भारत के मसऊँद, खुसरो तथा शकरगंजी आदि के साहित्य की भाषा के लिए ही हिंदुई या हिंदवी नाम का प्रयोग करते हैं।

'हिंदुस्तानी' शब्द 'हिंदुस्तान + ई' से बना है। ग्रियर्सन, धीरेंद्र वर्मा आदि कई लोगों का मत है कि यह नाम अंग्रेजों का दिया हुआ है, किंतु वास्तविकता यह है कि 'तुजके बाबरी' में भाषा के अर्थ में 'हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रारंभ में यह शब्द 'हिंदी' या 'हिंदवी' का समानार्थी था किंतु आगे चलकर इसका वह अर्थ हो गया जो आज उर्दू का है, अर्थात् हिंदी का वह रूप जिसमें अरबी, फारसी, तुर्की शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। जैसा कि ऊपर संकेत है तासी के प्रसिद्ध इतिहास 'इस्तवार दल लित्रेत्यूर ऐंदुई ए ऐंदुस्तानी' में ऐंदुस्तानी (हिंदुस्तानी) का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। और आगे चलकर जब हिंदी और उर्दू नामों का प्रयोग एक ही भाषा की ऐसी शैलियों के लिए होने लगा जिनमें क्रमशः संस्कृत और अरबी, फारसी के शब्दों का बाहुल्य था तो 'हिंदुस्तानी' हिंदी-उर्दू के बीच की उस भाषा को कहने लगे जिसमें न तो संस्कृत के कठीन शब्द होते हैं और न अरबी-फारसी के। इसमें तद्भव तथा बहुप्रचलित संस्कृत तत्सम और अरबी-फारसी के वे शब्द होते हैं, जो बोलचाल में भी प्रयुक्त होते हैं। गाँधी जी ने 'हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है।

'उर्दू' शब्द मूलतः तुर्की भाषा का है तथा इसका अर्थ है 'शाही शिविर' या 'खेमा'। तुर्कों के साथ ही यह शब्द भारत में आया और इसका यहाँ प्रारंभिक अर्थ 'खेमा' या 'फौजी पड़ाव' था। इस अर्थ में उत्तरी भारत के अनेक नगरों में 'उर्दू बाजार' (फौजी पड़ाव का बाजार) नाम आज भी मिलता है। मुगल बादशाह के इन फौजी पड़ावों में धीरे-धीरे पूर्वी पंजाबी, हरियाणी, कौरवी, ब्रज मिश्रित एक बोली विकसित हुई जिसमें अरबी, फारसी, तुर्की के शब्द काफी थे। बोलियों का मिश्रण स्थानीय प्रभाव तथा इन खेमों के सिपाहियों के कारण था, तो तुर्की शब्द मुगलों की अपनी भाषा तुर्की और उनकी दरबारी भाषा फारसी के कारण थे। शाहजहाँ ने दिल्ली में लालकिला बनवाया। यह भी एक प्रकार से 'उर्दू' (शाही और फौजी पड़ाव) था, किंतु बहुत बड़ा था। अतः इसे उर्दू न कहकर 'उर्दू-ए-मुअल्ला' कहा गया तथा यहाँ बोली जानेवाली भाषा 'जबान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला' (श्रेष्ठ शाही पड़ाव की भाषा) कहलायी। भाषा-विशेष के अर्थ में 'उर्दू' शब्द इस 'जबान-ए-उर्दू-मुअल्ला' का संक्षेप है। भाषा के अर्थ में 'उर्दू' शब्द का प्रयोग सबसे पहले कब हुआ, यह कहना कठिन है, किंतु मोटे रूप में अठारहवीं सदी के मध्य में यह चल पड़ा था; यद्यपि इसे ज्यादातर 'हिंदी' या 'रेख्ता' (मिश्रित भाषा) कहते थे। इसके साथ ही इसे 'हिंदुस्तानी' नाम से भी अभिहित किया गया है। 1850 ई. तक आते-आते इस भाषा के लिए अन्य नामों का प्रचलन बंद हो गया और केवल 'उर्दू' नाम चलने लगा।

हिंदवी के मुख्यतः दो रूप प्राचीन काल से आ रहे थे। एक तो बोली-रूप जो ब्रज, अवधी आदि का था और दूसरा उसका एक प्रकार से मिश्रित रूप था जो किसी क्षेत्र से संबद्ध न होकर पूरे हिंदी-प्रदेश में उभर रहा था। गोरखनाथ, खुसरो, कबीर आदि में इसके प्रारंभिक रूप मिलते हैं। लगभग ऐसी ही मिश्रित भाषा (अरबी, फारसी, तुर्की शब्दों से युक्त) उर्दू भी थी। आगे चलकर दोनों के मूलाधार एक हो गये तथा फारसी, अरबी, तुर्की शब्दों से युक्त भाषा उर्दू कहलायी तो संस्कृत से युक्त हिंदी।

1.6. 'हिंदी' नाम और उसके विभिन्न रूप

'हिंदी' शब्द का संबंध संस्कृत शब्द 'सिंधु' से माना जाता है। 'सिंधु' सिंध नदी को कहते थे और उसी आधार पर उसके आसपास की भूमि को 'सिन्धु' कहने लगे। यह 'सिंधु' शब्द ईरानी में जाकर 'हिंदू'

नोट

और फिर 'हिंद' हो गया और इसका अर्थ हुआ 'सिंध प्रदेश'। बाद में ईरानी धीरे-धीरे भारत के अधिक भागों से परिचित होते गये और इस शब्द के अर्थ में विस्तार होता गया तथा 'हिंद' शब्द धीरे-धीरे पूरे भारत का वाचक हो गया। इसी में ईरानी का 'ईक' प्रत्यय लगने से 'हिंन्दीक' बना, जिसका अर्थ 'हिन्द का'। यूनानी शब्द 'इन्दिका' या अंग्रेजी शब्द 'इंडिया' आदि इस 'हिंदीक' के ही विकसित रूप हैं। 'हिन्दी' भी 'हिन्दीक' का ही परिवर्तित रूप है और इसका मूल अर्थ है 'हिंद का'। इस प्रकार यह विशेषण है, किंतु भाषा के अर्थ में संज्ञा हो गया है। हिंदी भाषा के लिए इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग शरफुद्दीन यज्दी के 'जफरनामा' (1424) में मिलता है।

वस्तुत: शब्दों में अरबी-फारसी तथा संस्कृत के आधिक्य की बात छोड़ दें तो हिंदी-उर्दू में कोई खास अंतर नहीं है। दोनों ही एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं। इसलिए प्रारंभ में 'हिंदी' शब्द का प्रयोग हिंदी और उर्दू दोनों के लिए होता था। 'तजकिरा मखजन-उल-गरायब' में आता है: 'दर जबाने हिंदी कि मुराद उर्दू अस्त'। यहाँ 'हिंदी' शब्द उर्दू का समानार्थी है; तो दूसरी तरफ हिंदी के सूफी कवि नूर मुहम्मद ने कहा है–"हिंदू मग पर पांव न राख्यौ, का बहुतै जो हिंदी भाख्यौ।" यहाँ इस शब्द का प्रयोग हिंदी के लिए है। मुल्ला वजही, सौदा, मीर आदि ने अपने शेरों को हिंदी शेर कहा है। गालिब ने भी अपने पत्रों में कई स्थानों पर हिंदी-उर्दू को समानार्थी रूप में प्रयुक्त किया है। अनुमान है कि उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में अंग्रेजों की विशेष भाषा-नीति के कारण ही इन दोनों को अलग-अलग भाषाएँ माना जाने लगा। उर्दू को मुसलमानों से जोड़ दिया गया, तो हिंदी को हिंदुओं से। यदि अंग्रेज बीच में न पड़े होते तो आज ये दोनों भाषाएँ एक होतीं।

1.7. हिंदी का विकास

हम देख चुके हैं कि खड़ी बोली हिंदी का उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है, किंतु यदि हिंदी को पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी की आठ बोलियों का प्रतिनिधि मानें तो उसका उद्भव शौरसेनी तथा अर्धमागधी अपभ्रंश से हुआ है। विस्तार में जाकर यदि उसे सत्रह बोलियों का प्रतिनिधि मानें तो हिंदी का उद्भव शौरसेनी, अर्धमागधी तथा मागधी अपभ्रंश से हुआ है।

यों तो हिंदी भाषा के कुछ व्याकरणिक रूप पालि में ही मिलने लगते हैं, प्राकृतकाल में उनकी संख्या और भी बढ़ गई है। तथा अपभ्रंश-काल में ये रूप प्राय: चालीस प्रतिशत से भी ऊपर हो गये हैं, किंतु हिंदी भाषा का वास्तविक आरंभ 1000 ई. से माना जाता है। इस तरह हिंदी के विकास का इतिहास आज तक कुल लगभग पौने दस सौ वर्षों (1000-1975) में फैला है। भाषा के विकास की दृष्टि से इस पूरे समय को तीन कालों में बाँटा जा सकता है। आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल।

आदिकाल (1000-1500): हिंदी भाषा अपने आदिकाल में सभी बातों में अपभ्रंश के बहुत अधिक निकट थी, क्योंकि उसी से हिंदी का उद्भव हुआ था। आदिकालीन हिंदी में मुख्यत: उन्हीं ध्वनियों (स्वरों-व्यंजनों) का प्रयोग मिलता है जो अपभ्रंश में प्रयुक्त होती थीं। मुख्य अंतर ये हैं–

1. अपभ्रंश में केवल आठ स्वर थे–अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ। ये आठों ही स्वर मूल स्वर थे। आदिकालीन हिंदी में दो नए स्वर ऐ, औ विकसित हो गये जो संयुक्त स्वर थे तथा जिनका उच्चारण क्रमश: अएँ, अऑ था।
2. च, छ, ज, झ संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में स्पर्श व्यंजन थे, किंतु आदिकालीन हिंदी में आकर ये स्पर्श-संघर्षी हो गये और तब से अब तक ये स्पर्श-संघर्षी ही हैं।
3. न, र, ल, स संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में दन्त्य (ध्वनियाँ) थे। आदिकाल में ये वत्स्यं हो गये।
4. अपभ्रंश में ड़, ढ़ व्यंजन नहीं थे। आदिकाल हिंदी में इनका विकास हुआ।
5. न्ह, म्ह, ल्ह पहले संयुक्त व्यंजन थे; अब वे क्रमश: न, म, ल के महाप्राण रूप हो गये अर्थात् संयुक्त व्यंजन न रहकर मूल व्यंजन हो गये।

6. संस्कृत, फारसी आदि से कुछ शब्दों के आ जाने के कारण कुछ नये संयुक्त व्यंजन हिंदी में आ गये जो अपभ्रंश में नहीं थे। कुछ अपभ्रंश-शब्दों के लोप के कारण कुछ ऐसे संयुक्त व्यंजनों, स्वरानुक्रमों तथा व्यंजनानुक्रमों के लोप की भी संभावना हो सकती है, जो अपभ्रंश में थे।

नोट

आदिकालीन हिंदी का व्याकरण 1000 या 1100 ई. के आसपास तक अपभ्रंश के बहुत अधिक निकट था। भाषा में काफी रूप ऐसे थे जो अपभ्रंश के थे, किंतु धीरे-धीरे अपभ्रंश के व्याकरणिक रूप कम होते गये और हिंदी के अपने रूप विकसित होते गये। धीरे-धीरे 1500 ई. तक आते-आते हिंदी अपने पैरों पर खड़ी हो गई और अपभ्रंश के रूप प्रायः प्रयोग से निकल गये। आदिकालीन हिंदी का व्याकरण समवेततः अपभ्रंश व्याकरण से इन बातों में भिन्न है:

1. अपभ्रंश काफी हद तक संयोगात्मक भाषा थी। क्रिया तथा कारकीय रूप संयोगात्मक होते थे, किंतु आदिकालीन हिंदी में वियोगात्मक रूपों का प्राधान्य हो चला। सहायक क्रियाओं तथा परसर्गों (कारक-चिह्नों) का प्रयोग काफी होने लगा और धीरे-धीरे संयोगात्मक रूप कम होते गये और उनका स्थान वियोगात्मक रूप लेते गये।
2. नपुंसकलिंग एक सीमा तक अपभ्रंश में था—यद्यपि संस्कृत, पालि, प्राकृत की तुलना में उसकी स्थिति अस्पष्ट-सी होती जा रही थी। आदिकालीन हिंदी प्रयोगों में नपुंसकलिंग का प्रयोग प्रायः पूर्णतः समाप्त हो गया। गोरखनाथ की रचनाओं में कुछ प्रयोगों को कुछ लोगों ने नपुंसकलिंग का माना है, किंतु यह मान्यता पूर्णतः असन्दिग्ध नहीं कही जा सकती।
3. हिंदी वाक्य-रचना में शब्द-क्रम धीरे-धीरे निश्चित होने लगा था।

आदिकालीन हिंदी का शब्द-भंडार अपने प्रारंभिक चरण में अपभ्रंश का ही था, किंतु धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन आते गये जिनमें उल्लेख्य तीन हैं :

1. भक्ति-आंदोलन का प्रारंभ हो गया था, अतः अपभ्रंश की तुलना में तत्सम शब्दावली कुछ बढ़ने लगी थी।
2. मुसलमानों के आगमन से कुछ शब्द पश्तो, फारसी तथा तुर्की भाषाओं से हिंदी में आये।
3. भक्ति-आंदोलन तथा मुसलमानी शासन का प्रभाव समाज पर भी पड़ा जिसके परिणामस्वरूप इस बात की भी संभावना हो सकती है कि कुछ ऐसे पुराने शब्द, जो अपभ्रंश में प्रचलित थे, इस काल में अनावश्यक या अल्पावश्यक होने के कारण या तो हिंदी शब्द-भंडार से निकल गये या फिर उनका प्रयोग बहुत कम हो गया।

इस काल के साहित्य में प्रमुखतः डिंगल, मैथिली, दक्खिनी, अवधी, ब्रज तथा मिश्रित रूपों का प्रयोग मिलता है। इस युग के प्रमुख हिंदी-साहित्यकार गोरखनाथ, विद्यापति, नरपति नाल्ह, चंदबरदायी, कबीर आदि हैं।

मध्यकाल : (1500–1800): इस काल में ध्वनि, व्याकरण तथा शब्द-भंडार के क्षेत्र में मुख्यतः आगे दिये गये परिवर्तन हुए। ध्वनि के क्षेत्र में दो-तीन बातें उल्लेख्य हैं:

1. फारसी की शिक्षा की कुछ व्यवस्था तथा दरबार में फारसी का प्रयोग होने से उच्च वर्ग में फारसी का प्रचार हुआ, जिसके कारण उच्च वर्ग के लोगों की हिंदी में क़, ख़, ग़, ज़, फ़ ये पाँच नये व्यंजन आ गये।
2. शब्दांत का 'अ' कम-से-कम मूल व्यंजन के बाद आने पर लुप्त हो गया, अर्थात् 'राम' का उच्चारण 'राम्' होने लगा। किंतु 'भक्त' जैसे शब्दों में—जहाँ अ के पूर्व संयुक्त व्यंजन था—'अ' बना रहा। कुछ स्थितियों में अक्षरांत 'अ' का भी लोप होने लगा। उदाहरण के लिए, आदिकालीन 'जपता' अब उच्चारण 'जप्ता' हो गया।
3. ह के पहले का अ कुछ स्थितियों में ए जैसा उच्चरित होने लगा था (अहमद-एहमद)।

नोट

व्याकरण के क्षेत्र में भी मुख्यत: तीन ही बातें उल्लेख्य हैं:

1. इस काल में हिंदी भाषा व्याकरण के क्षेत्र में पूरी तरह अपने पैरों पर खड़ी हो गई। अपभ्रंश के रूप प्राय: हिंदी से निकल गये। जो कुछ बचे थे, वे ऐसे थे जिन्हें हिंदी ने आत्मसात् कर लिया था।
2. भाषा आदिकालीन भाषा की तुलना में और भी वियोगात्मक हो गई। संयोगात्मक रूप और भी कम हो गये। परसगों तथा सहायक क्रियाओं का प्रयोग और भी बढ़ गया।
3. उच्च वर्ग में फारसी का प्रचार होने के कारण हिंदी वाक्य रचना फारसी से प्रभावित होने लगी थी।

शब्द-भंडार की दृष्टि से ये बातें मुख्य हैं:

1. इस काल में आते-आते काफ़ी शब्द फ़ारसी (लगभग 3500), अरबी (लगभग 2500), पश्तो (लगभग 50) तथा तुर्की (लगभग 125) से हिंदी में आ गये और उनकी संख्या लगभग 600 हो गई।
2. भक्ति आंदोलन के चरम बिंदु पर पहुँचने के कारण तत्सम शब्दों का अनुपात भाषा में और भी बढ़ गया।
3. यूरोप से संपर्क होने के कारण कुछ पुर्तगाली, स्पेनी, फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी शब्द भी हिंदी में आ गये।

इस काल में धर्म की प्रधानता के कारण राम-स्थान की भाषा अवधी तथा कृष्ण-स्थान की भाषा ब्रज में ही विशेष रूप से साहित्य रचा गया। यों दक्खिनी, उर्दू, डिंगल, मैथिली और खड़ी बोली में भी साहित्य-रचना हुई। इस काल के प्रमुख साहित्यकार जायसी, सूर, मीरा, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण, देव हैं।

आधुनिक काल : (1800 से अब तक): आधुनिककालीन हिंदी में ध्वनि के क्षेत्र में चार-पांच बातें उल्लेख्य हैं:

1. आधुनिक काल में शिक्षा के व्यवस्थित प्रचार के कारण तथा प्रारंभ में हिंदी प्रदेश में अनेक क्षेत्रों में कचहरियों की भाषा उर्दू होने के कारण क़, ख़, ग़, ज़, फ़ जो मध्यकाल में केवल उच्च वर्गों के फारसी पढ़े-लिखे लोगों तक प्रचलित थे, इस काल में प्राय: 1947 ई. तक सुशिक्षित लोगों में खूब प्रचलित हो गये। किंतु स्वतंत्रता के बाद स्थिति बदली है और अंग्रेजी में प्रयुक्त होने के कारण ज़, फ़ तो एक सीमा तक अब भी प्रयोग में हैं, किंतु क़, ख़, ग़ के ठीक प्रयोग में कमी आयी है। नयी पीढ़ी, कुछ अपवादों को छोड़कर, इनके स्थान पर प्राय: क, ख, ग बोलने लगी है।
2. अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार के कारण कुछ बहुशिक्षित लोगों द्वारा ऑ (कॉलेज, डॉक्टर, ऑफिस, कॉफ़ी आदि में) ध्वनि भी हिंदी में प्रयुक्त हो रही है।
3. अंग्रेज़ी शब्दों के प्रचार के कारण कुछ नये संयुक्त व्यंजन (जैसे ड) हिंदी में प्रयुक्त होने लगे हैं।
4. स्वरों में ऐ, औ हिंदी में आदिकाल में आये थे। इनका उच्चारण अएँ, अओं, या, अर्थात् ये संयुक्त स्वर थे। आधुनिक काल में, मुख्यत: 1940 ई. के बाद ऐ, औ की स्थिति कुछ भिन्न हो गयी है। इस संबंध में तीन बातें उल्लेख्य हैं: (क) पश्चिमी हिंदी-क्षेत्र में ये स्वर सामान्यत: मूल स्वर-रूप में उच्चरित होते हैं। (ख) पूर्वी हिंदी-क्षेत्र में अब भी ये अएँ, अओं रूप में संयुक्त स्वर के रूप में ही प्रयुक्त हो रहे हैं (ग) नैया, वैयाकरण, कौआ जैसे शब्दों में, पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों ही क्षेत्रों में ऐ, औ का उच्चारण क्रमश: संयुक्त स्वर अइ, अउ रूप में होता है।
5. मध्यकाल में अ का लोप शब्दांत तथा कुछ स्थितियों में अक्षरांत में होना आरंभ हुआ था। आधुनिक काल तक आते-आते यह प्रक्रिया पूरी हो गयी। अब हिंदी में उच्चारण में कोई भी शब्द अकारांत नहीं है।

6. व ध्वनि आदिकाल तथा मध्यकाल में कुछ अपवादों को छोड़कर प्राय: द्वयोष्ठ रूप में उच्चरित होती थी, अब वह कुछ अपवादों को छोड़कर हिंदी के काफी शब्दों में कम-से-कम पश्चिमी क्षेत्र में दंतोष्ठ्य रूप में उच्चरित होती है।

व्याकरण की दृष्टि से अधोलिखित बातें कही जा सकती हैं–

1. आदिकाल में हिंदी की विभिन्न बोलियों के व्याकरणिक अस्तित्व का प्रारंभ हो गया था, किंतु काफ़ी व्याकरणिक रूप ऐसे थे, जो आसपास के क्षेत्रों में समान थे। मध्यकाल में उनमें इस प्रकार के मिश्रण में काफी कमी हो गई थी। सूर, बिहारी, देव आदि की ब्रजभाषा तथा जायसी, तुलसी आदि की अवधि इस बात का प्रमाण है। आधुनिक काल तक आते-आते ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि कई बोलियों का व्याकरणिक अस्तित्व इतना स्वतंत्र हो गया है कि उन्हें बड़ी सरलता से भाषा की संज्ञा दी जा सकती है।
2. हिंदी प्राय: पूर्णत: एक वियोगात्मक भाषा हो गयी है।
3. प्रेस, रेडियो, शिक्षा तथा व्याकरणिक विश्लेषण आदि के प्रभाव से हिंदी व्याकरण का रूप काफ़ी स्थिर हो गया है। कुछ अपवादों को छोड़कर हिंदी व्याकरण का मानक रूप सुनिश्चित हो चुका है। व्याकरण के इस स्थिरीकरण में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का मुख्य हाथ रहा है।
4. कहा जा चुका है कि मध्यकाल में हिंदी वाक्य-रचना एक सीमा तक फारसी से प्रभावित हुई थी। आधुनिक काल में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार फारसी की तुलना में कहीं अधिक हुआ है। साथ ही समाचार-पत्रों, रेडियो तथा सरकारी कामों में प्रयोग के कारण भी अंग्रेज़ी हमारे अधिक निकट आयी है। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदी भाषा वाक्य-रचना, मुहावरों तथा लोकोक्ति आदि के क्षेत्र में अंग्रेज़ी से बहुत अधिक प्रभावित हुई है। उदाहरण के लिए, 'मैं सोने जा रहा हूँ' 'आई ऐम गोइंग टु स्लीप' का अनुवाद है तो 'वह आदमी जो कल बीमार पड़ा था, आज मर गया' 'द मैन हू फेल इल येस्टरडे एक्सपायरड टु डे, का। इसी तरह 'प्रकाश डालना' मुहावरा 'टु थ्रो लाइट ऑन' का अनुवाद है, तो 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है', लोकोक्ति 'नेसेसिटी इज द मदर ऑफ इन्वेन्शन' का। अंग्रेज़ी ने विराम-चिह्नों के माध्यम से भी हिंदी वाक्य-रचना को प्रभावित किया है।
5. इधर कुछ वर्षों से 'कीजिए' के लिए 'करिए', 'मुझे' के लिए 'मेरे को', 'मुझको' के लिए 'मेरे से', 'तुझ में' के लिए 'तेरे में', 'तेरे में', नहीं जाता है के स्थान पर 'नहीं जाता', 'नहीं जा रहा है' के स्थान पर 'नहीं जा रहा' जैसे नये रूपों तथा नयी वाक्य-रचना का प्रचार कुछ क्षेत्रों में बढ़ता जा रहा है। अर्थात् हिंदी भाषा को रूप-रचना तथा वाक्य-रचना में परिवर्तन हो रहा है।

शब्द-भंडार की दृष्टि से 1800 ई. से अब तक के आधुनिक काल को सामान्यत: छह-सात उपकालों में विभाजित किया जा सकता है। 1800 से 1850 ई. तक का हिंदी शब्द-भंडार मोटे रूप से वही था जो मध्यकाल के अंतिम चरण में था। अंतर केवल यह था कि धीरे-धीरे अंग्रेज़ी के अधिकाधिक शब्द हिंदी भाषा में आते जा रहे थे। 1850 से 1900 ई. तक अंग्रेज़ी के और शब्दों के आने के अतिरिक्त आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के कारण तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ा और कुछ पुराने तद्भव शब्द परिनिष्ठित हिंदी से निकल गये। 1900 ई. के बाद द्विवेदी-काल तथा छायावाद-काल में अनेक कारणों से तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ना प्रारंभ हो गया। प्रसाद पन्त और महादेवी वर्मा का पूरा साहित्य इस दृष्टि से दर्शनीय है। इसके बाद प्रगतिवादी आंदोलन के कारण तद्भव शब्दों के प्रयोग में पुन: वृद्धि हुई तथा तत्सम शब्दों के प्रयोग में काफी कमी हुई। सन् 1947 तक लगभग यही स्थिति रही। इसके बाद के शब्द-भंडार में कई बातें उल्लेख्य हैं:

1. अनेक पुराने शब्द नये अर्थों में प्रचलित हो गये हैं। उदाहरण के लिए, 'सदन' राज्यसभा-लोकसभा के लिए (दोनों सदनों में) प्रयुक्त हो रहा है।
2. नयी आवश्यकता की पूर्ति के लिए क्षणिका, फिल्माना, घुसपैठिया जैसे बहुत-से नये शब्द हिंदी में आ गये हैं।

नोट

3. साहित्य में नाटक, उपन्यास, कहानी और कविता की भाषा बोलचाल के बहुत निकट है; उसमें अरबी-फारसी तथा अंग्रेज़ी के जन-प्रचलित शब्दों का काफी प्रयोग हो रहा है, किंतु आलोचना की भाषा अब भी एक सीमा तक तत्सम शब्दों से काफी लदी हुई है।
4. इधर हिंदी को पारिभाषिक शब्दों की बहुत आवश्यकता पड़ी है, क्योंकि वह अब विज्ञान, वाणिज्य, विधि आदि की भी भाषा है। इसकी पूर्ति के लिए अनेक शब्द अंग्रेज़ी, संस्कृत आदि से लिये गये हैं तथा अनेक नये शब्द बनाये गये हैं। स्वतंत्रता के पूर्व हिंदी में मुश्किल से पांच-छह हज़ार पारिभाषिक शब्द थे, किंतु अब उनकी संख्या लगभग एक लाख है और दिनोंदिन उसमें वृद्धि होती जा रही है। हिंदी शब्द-भंडार अनेक प्रभावों को ग्रहण करते हुए तथा नये शब्दों से समृद्ध होते हुए दिनोंदिन अधिक व्यापक होता जा रहा है, जिसके परिणामस्वरूप हिंदी अपनी अभिव्यंजना में अधिक सटीक, निश्चित, गहरी तथा समर्थ होती जा रही है।

किसी भाषा के प्रचार-क्षेत्र में जैसे-जैसे विस्तार होता है, उसके एकाधिक रूप विकसित होने लगते हैं। आज इंग्लैंड, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया की अंग्रेज़ी ध्वनि-व्यवस्था, रूप-रचना, वाक्य-गठन तथा शब्द-भंडार किसी भी दृष्टि से पूर्णत: एक नहीं है। हिंदी के साथ भी वही स्थिति आती जा रही है। संविधान के 351वें अनुच्छेद के अनुसार संपर्क भाषा के रूप में जिस हिंदी का विकास होना है, वह कम-से-कम शब्द-भंडार के क्षेत्र में भारत की प्राय: सभी भाषाओं से कुछ-न-कुछ ग्रहण करेगी। इस प्रकार राष्ट्रभाषा के रूप में उसका स्वरूप एक प्रकार से सार्वदेशिक होगा। नागपुर में हुए विश्व हिंदी-सम्मेलन (1975) में इस दिशा में स्वदेश-विदेश के हिंदी विद्वानों ने यथेष्ट विचार-विमर्श के उपरांत उपर्युक्त निष्कर्ष से ही सहमति प्रकट की और हिंदी को राष्ट्रभाषा के साथ ही विश्व की एक प्रमुख भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का संकल्प व्यक्त किया।

1.8. सारांश (Summary)

- 'हिंदी' जिस भाषा-धारा के विशिष्ट दैशिक और कालिक रूप का नाम है, भारत में उसका प्राचीनतम रूप संस्कृत है। संस्कृत का काल मोटे रूप से 1500 ई.पू. से 500 ई.पू. तक माना जाता है। इस काल में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। उस बोलचाल की भाषा का ही शिष्ट और मानक रूप संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त हुआ है।
- 'खड़ी बोली' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है: एक तो साहित्यिक हिंदी खड़ी बोली के अर्थ में और दूसरे दिल्ली-मेरठ के आसपास की लोक-बोली के अर्थ में। यहाँ दूसरे अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। इसी अर्थ में 'कौरवी' का भी प्रयोग कुछ लोग करते हैं। 'खड़ी बोली' में 'खड़ी' शब्द का अर्थ विवादास्पद है। कुछ लोगों ने 'खड़ी' का अर्थ 'खरी' (pure) अर्थात् शुद्ध माना है, तो दूसरों ने 'खड़ी' (standing)। कुछ अन्य लोगों ने इसका संबंध खड़ी बोली में अधिकता से प्रयुक्त खड़ी पायी 'ा' (गया, बड़ा, का) तथा उसके ध्वन्यात्मक प्रभाव कर्कशता से जोड़ा है।
- आज हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी नामों का प्रयोग जिन भाषा-रूपों के लिए होता है, व्याकरणिक स्तर पर वे प्राय: एक ही हैं और उनकी आधार-भाषा वह मिश्रित बोली है जो मूलत: कौरवी, पंजाबी, ब्रज आदि के योग से बनी होगी। आज इस खड़ी बोली में जब बोलचाल के शब्दों (आधारभूत शब्दावली, बहुप्रचलित तद्भव शब्द, सरल बहुप्रचलित संस्कृत शब्द तथा सरल बहुप्रचलित अरबी, फारसी, तुर्की शब्द) का ही प्रयोग होता है तो उसे बोलचाल की हिंदी या हिंदुस्तानी कहते हैं; उन शब्दों के साथ ही जब संस्कृत के अल्प प्रचलित अत: कठिन तत्सम शब्दों का भी काफी प्रयोग होता है तो उसे हिंदी या साहित्यिक हिंदी कहते हैं, और जब उन शब्दों के साथ अरबी, फारसी, तुर्की के अल्पप्रचलित अत: कठिन शब्दों का बहुत प्रयोग होने लगता है तो उसे उर्दू कहते हैं। इस तरह खड़ी बोली की या सामान्य हिंदी की ये तीन शैलियाँ हैं।

नोट

- 'हिंदी' शब्द का संबंध संस्कृत शब्द 'सिंधु' से माना जाता है। 'सिंधु' सिंध नदी को कहते थे और उसी आधार पर उसके आसपास की भूमि को 'सिन्धु' कहने लगे। यह 'सिंधु' शब्द ईरानी में जाकर 'हिंदू' और फिर 'हिंद' हो गया और इसका अर्थ हुआ 'सिंध प्रदेश'। बाद में ईरानी धीरे-धीरे भारत के अधिक भागों से परिचित होते गये और इस शब्द के अर्थ में विस्तार होता गया तथा 'हिंद' शब्द धीरे-धीरे पूरे भारत का वाचक हो गया।
- 1800 से 1850 ई. तक का हिंदी शब्द-भंडार मोटे रूप से वही था जो मध्यकाल के अंतिम चरण में था। अंतर केवल यह था कि धीरे-धीरे अंग्रेज़ी के अधिकाधिक शब्द हिंदी भाषा में आते जा रहे थे। 1850 से 1900 ई. तक अंग्रेज़ी के और शब्दों के आने के अतिरिक्त आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के कारण तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ा और कुछ पुराने तद्भव शब्द परिनिष्ठित हिंदी से निकल गये।

1.9. शब्दकोश (Keywords)

संस्कृतकालीन	–	संस्कृत काल से संबंधित
चरागाह	–	मवेशी चराने का घास का मैदान
मुद्रित	–	छपा हुआ

1.10. अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. हिंदी की उपभाषाओं और बोलियों से आप क्या समझते हैं?
2. 'खड़ी बोली' से क्या तात्पर्य है? लोक साहित्य में इसका क्या स्थान है?
3. 'हिंदी के क्रमिक विकास' पर टिप्पणी लिखिए।
4. आधुनिककालीन हिंदी में ध्वनि के क्षेत्र में कौन-सी बातें उल्लेखनीय हैं?
5. **रिक्त स्थानों की पूर्ति करें** (Fill in the blanks) :
   1. कन्नौजी बोली का केन्द्र ..... है।
   2. अवधी बोली का केन्द्र ..... है।
   3. बघेली का उद्भव ..... के ही एक क्षेत्रीय रूप से हुआ है।
   4. जयपुरी को ..... भी कहते हैं।
6. **बहुविकल्पीय प्रश्न** (Multiple Choice Questions) :
   1. 'हिंदुई' शब्द ..... से बना है।
      (क) हिंदु + ई (ख) हिंद + ई
      (ग) हिं + दुई (घ) इनमें से नहीं कोई नहीं
   2. उर्दू शब्द मूलत: ..... भाषा का है।
      (क) फारसी (ख) तुर्की
      (ग) अरबी (घ) इनमें से कोई नहीं
   3. 'हिंदी' ..... बोलियों का सामूहिक नाम है।
      (क) आठ (ख) चार
      (ग) दो (घ) दस
   4. 'हिंदी भाषा का वास्तविक आरंभ ..... से माना जाता है।
      (क) 800 ई. (ख) 1000 ई.
      (ग) 500 ई. (घ) 2000 ई.

1.11. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

नोट

पुस्तकें

1. हिंदी भाषा का उद्‌भव और विकास – गुणानंद जुयाल
2. हिंदी भाषा – कैलास चंद्र भाटिया
3. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य – बेचन
4. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – राजकुमार वर्मा

2. हिंदी भाषा के विभिन्न रूप–बोलचाल की भाषा, रचनात्मक राष्ट्रभाषा, राजभाषा, संपर्क भाषा, संचार भाषा

रूपरेखा

2.1 उद्देश्य (Objectives)
2.2 प्रस्तावना (Introduction)
2.3 हिंदी भाषा
2.4 हिंदी एवं उर्दू
2.5 परिवार
2.6 हिंदी का निर्माण-काल
2.7 इतिहास क्रम
2.8 हिंदी के विकास की अन्य विशेषताएँ
2.9 बोलचाल की भाषा
2.10 रचनात्मक भाषा
2.11 हिंदी भाषा के विविध रूप
- **2.11.1** सामान्य भाषा
- **2.11.2** मातृभाषा
- **2.11.3** अन्तर्राष्ट्रीय भाषा
- **2.11.4** माध्यम भाषा

2.12 शिक्षा का माध्यम हिंदी भाषा
2.13 विश्व में भाषा का महत्त्व
2.14 संपर्क भाषा
2.15 हिंदी और जनसंचार भाषा
2.16 राजभाषा हिंदी
2.17 राष्ट्रभाषा
2.18 सारांश (Summary)
2.19 शब्दकोश (Keywords)
2.20 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
2.21 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

2.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- हिन्दी भाषा के विविध रूपों की जानकारी प्राप्त करने में,
- प्रयोजनमूलक हिन्दी की प्रयुक्तियों को समझने में,
- मातृभाषा में शिक्षा के महत्त्व को जानने में,

नोट

2.2. प्रस्तावना (Introduction)

हिन्दी भाषा के उज्ज्वल स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए आवश्यक है उसकी गुणवत्ता, क्षमता, शिल्प-कौशल और सौन्दर्य का सही-सही आकलन किया जाए। यदि ऐसा किया जाए तो आसानी से समझा जा सकता है कि विश्व की उन्नत भाषाओं में हिन्दी सबसे अधिक व्यवस्थित, सरल एवं लचीली भाषा है।

हिन्दी सच्चे अर्थों में विश्व भाषा बनने की पूर्ण अधिकारी है क्योंकि हिन्दी लिखने के लिए प्रयुक्त देवनागरी लिपि अत्यन्त वैज्ञानिक है। हिन्दी को संस्कृत शब्द संपदा एवं नवीन शब्द रचना का सामर्थ्य विरासत में मिली है। वह देशी भाषाओं एवं अपनी बोलियों से शब्द लेने में संकोच नहीं करती। अंग्रेजी के मूल शब्द 10,000 हैं, जबकि हिन्दी के मूल शब्दों की संख्या ढाई लाख से भी अधिक है। यह भारत की राजभाषा है।

आजादी के बाद मातृभाषा हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के उत्थान का जो सपना देखा गया था अब वह सपना दस्तावेजों, कार्यक्रमों तथा संस्थाओं में दब कर रह गया है जो चिंताग्रस्त करने वाला है। हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है और बोलने, समझने वालों की संख्या की दृष्टि से इसका विश्व में तीसरा स्थान है। यानी कि हिन्दी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है।

प्रयोजनमूलक हिन्दी, हिन्दी के भाषिक अध्ययन का ही एक और नाम व रूप है। प्रयोजनमूलक हिन्दी का इतिहास लगभग 50 से 60 वर्ष पुराना है। आन्ध्र प्रदेश के भाषाविद् श्री मोटूरि सत्यनारायण के प्रयासों ने प्रयोजनमूलक हिन्दी को स्थापित किया। कैलाश चन्द्र भाटिया जी इसे कामकाजी हिन्दी भी कहते हैं। प्रयोजनमूलक हिन्दी में भाषा का प्रयोजनमूलक उद्देश्य होता है। जब हम हिन्दी का प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों में जीविका चलाने हेतु करते हैं, तब हिन्दी प्रयोजनमूलक हिन्दी का रूप ग्रहण कर लेती है।

2.3. हिंदी भाषा

हिन्दी शब्द का सम्बन्ध संस्कृत शब्द सिन्धु से माना जाता है। 'सिन्धु' सिन्ध नदी को कहते थे और उसी आधार पर उसके आसपास की भूमि को सिन्धु कहने लगे। यह सिन्धु शब्द ईरानी में जाकर 'हिन्दू', हिन्दी और फिर 'हिन्द' हो गया। बाद में ईरानी धीरे-धीरे भारत के अधिक भागों से परिचित होते गए और इस शब्द के अर्थ में विस्तार होता गया तथा हिन्द शब्द पूरे भारत का वाचक हो गया। इसी में ईरानी का ईक प्रत्यय लगने से (हिन्द-ईक) 'हिन्दीक' बना जिसका अर्थ है 'हिन्द का'। यूनानी शब्द 'इन्दिका' या अंग्रेजी शब्द 'इण्डिया' आदि इस 'हिन्दीक' के ही विकसित रूप हैं। हिन्दी भाषा के लिए इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग शरफुद्दीन यजदी के 'जफरनामा' (1424) में मिलता है।

प्रोफ़ेसर महावीर सरन जैन ने अपने "हिन्दी एवं उर्दू का अद्वैत" शीर्षक आलेख में हिन्दी की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए कहा है कि ईरान की प्राचीन भाषा अवेस्ता में 'स्' ध्वनि नहीं बोली जाती थी। 'स्' को 'ह्' रूप में बोला जाता था। जैसे संस्कृत के 'असुर' शब्द को वहाँ 'अहुर' कहा जाता था। अफ़गानिस्तान के बाद सिन्धु नदी के इस पार हिन्दुस्तान के पूरे इलाके को प्राचीन फ़ारसी साहित्य में भी 'हिन्द', 'हिन्दुश' के नामों से पुकारा गया है तथा यहाँ की किसी भी वस्तु, भाषा, विचार को 'एडजेक्टिव' के रूप में 'हिन्दीक' कहा गया है जिसका मतलब है 'हिन्द का'। यही 'हिन्दीक' शब्द अरबी से होता हुआ ग्रीक में 'इन्दिके' 'इन्दिका' लैटिन में 'इन्दिया' तथा अंग्रेज़ी में 'इण्डिया' बन गया। अरबी एवं फ़ारसी साहित्य में हिन्दी में बोली जाने वाली भाषाओं के लिए 'ज़बान-ए-हिन्दी', पद का उपयोग हुआ है। भारत आने के बाद मुसलमानों ने 'ज़बान-ए-हिन्दी', 'हिन्दी जुबान' अथवा 'हिन्दी' का प्रयोग दिल्ली-आगरा के चारों ओर बोली जाने वाली भाषा के अर्थ में किया। भारत के गैर-मुस्लिम लोग तो इस क्षेत्र में बोले जाने वाले भाषा-रूप को 'भाखा' नाम से पुकारते थे, 'हिन्दी' नाम से नहीं।

2.4. हिन्दी एवं उर्दू

भाषाविद् हिन्दी एवं उर्दू को एक ही भाषा समझते हैं। हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और शब्दावली के स्तर पर अधिकांशत: संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करती है। उर्दू, फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है और शब्दावली के स्तर पर उस पर फ़ारसी और अरबी भाषाओं का प्रभाव अधिक है। व्याकरणिक रूप से उर्दू और हिन्दी में लगभग शत-प्रतिशत समानता है– केवल कुछ विशेष क्षेत्रों में शब्दावली के स्रोत में अंतर होता है। कुछ विशेष ध्वनियाँ उर्दू में अरबी और फ़ारसी से ली गयी हैं और इसी प्रकार फ़ारसी और अरबी की कुछ विशेष व्याकरणिक संरचना भी प्रयोग की जाती है। अत: उर्दू को हिन्दी की एक विशेष शैली माना जा सकता है।

2.5. परिवार

हिन्दी हिन्द-यूरोपीय भाषा परिवार के अन्दर आती है। ये हिन्द-ईरानी शाखा की हिन्द-आर्य उपशाखा के अन्तर्गत वर्गीकृत है। हिन्द-आर्य भाषाएँ वे भाषाएँ हैं जो संस्कृत से उत्पन्न हुई हैं। उर्दू, कश्मीरी, बंगाली, उड़िया, पंजाबी, रोमानी, मराठी, नेपाली जैसी भाषाएँ भी हिन्द-आर्य भाषाएँ हैं।

2.6. हिन्दी का निर्माण-काल

अपभ्रंश की समाप्ति और आधुनिक भारतीय भाषाओं के जन्मकाल के समय को संक्रांतिकाल कहा जा सकता है। हिन्दी का स्वरूप शौरसेनी और अर्द्धमागधी अपभ्रंशों से विकसित हुआ है। 1000 ई. के आसपास इसकी स्वतंत्र सत्ता का परिचय मिलने लगा था, जब अपभ्रंश भाषाएँ साहित्यिक संदर्भों में प्रयोग में आ रही थीं। यही भाषाएँ बाद में विकसित होकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के रूप में अभिहित हुईं। अपभ्रंश का जो भी कथ्य रूप था- वही आधुनिक बोलियों में विकसित हुआ।

अपभ्रंश के संबंध में 'देशी' शब्द की भी बहुधा चर्चा की जाती है। वास्तव में 'देशी' से देशी शब्द एवं देशी भाषा दोनों का बोध होता है। प्रश्न यह है कि देशीय शब्द किस भाषा के थे? भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में उन शब्दों को 'देशी' कहा है जो संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव रूपों से भिन्न हैं। ये 'देशी' शब्द जनभाषा के प्रचलित शब्द थे, जो स्वभावतया अपभ्रंश में भी चले आए थे। जनभाषा व्याकरण के नियमों का अनुसरण नहीं करती, परंतु व्याकरण को जनभाषा की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना पड़ता है, प्राकृत-व्याकरणों ने संस्कृत के ढाँचे पर व्याकरण लिखे और संस्कृत को ही प्राकृत आदि की प्रकृति माना। अत: जो शब्द उनके नियमों की पकड़ में न आ सके, उनको देशी संज्ञा दी गई।

2.7. इतिहास क्रम

हिन्दी भाषा के उज्ज्वल स्वरूप का भान कराने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी गुणवत्ता, क्षमता, शिल्प-कौशल और सौंदर्य का सही-सही आकलन किया जाए। यदि ऐसा किया जा सके तो सहज ही सब की समझ में यह आ जाएगा कि–

1. संसार की उन्नत भाषाओं में हिन्दी सबसे अधिक व्यवस्थित भाषा है,
2. यह सबसे अधिक सरल भाषा है,
3. यह सबसे अधिक लचीली भाषा है,
4. यह एक मात्र ऐसी भाषा है जिसके अधिकतर नियम अपवादविहीन हैं तथा
5. यह सच्चे अर्थों में विश्व भाषा बनने की पूर्ण अधिकारी है।
6. हिन्दी लिखने के लिये प्रयुक्त देवनागरी लिपि अत्यन्त वैज्ञानिक है।
7. हिन्दी को संस्कृत शब्द-संपदा एवं नवीन शब्द रचना सामर्थ्य विरासत में मिली है। वह देशी भाषाओं एवं अपनी बोलियों आदि से शब्द लेने में संकोच नहीं करती। अंग्रेजी के मूल शब्द लगभग 10,000 हैं, जबकि हिन्दी के मूल शब्दों की संख्या ढाई लाख से भी अधिक है।

8. हिन्दी बोलने एवं समझने वाली जनता पचास करोड़ से भी अधिक है।
9. भारत की सम्पर्क भाषा है।
10. भारत की राजभाषा है।

नोट

2.8. हिन्दी के विकास की अन्य विशेषताएँ

- हिन्दी पत्रकारिता का आरम्भ भारत के उन क्षेत्रों से हुआ जो हिन्दी-भाषी नहीं थे, जैसे कोलकाता, लाहौर आदि स्थानों से।
- हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का आन्दोलन अहिन्दी भाषियों (महात्मा गांधी, दयानन्द सरस्वती आदि) ने आरम्भ किया।
- हिन्दी पत्रकारिता की कहानी भारतीय राष्ट्रीयता की कहानी है।
- हिन्दी के विकास में राजाश्रय का कोई स्थान नहीं है; इसके विपरीत, हिन्दी का सबसे तेज विकास उस दौर में हुआ जब हिन्दी अंग्रेजी शासन का मुखर विरोध कर रही थी। जब-जब हिन्दी पर दबाव पड़ा, वह अधिक शक्तिशाली होकर उभरी है।
- 19वीं शताब्दी तक उत्तर प्रदेश की राजभाषा के रूप में हिन्दी का कोई स्थान नहीं था। परन्तु 20वीं सदी के मध्यकाल तक वह भारत की राष्ट्रभाषा बन गई।
- हिन्दी के विकास में पहले साधु-संत एवं धार्मिक नेताओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उसके बाद हिन्दी पत्रकारिता एवं स्वतंत्रता संग्राम से बहुत मदद मिली; फिर बंबइया फिल्मों से सहायता मिली और अब इलेक्ट्रॉनिक मीडिया (टीवी) के कारण हिन्दी समझने-बोलने वालों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई है।
- हिन्दी का मानकीकरण
- हिन्दी व्याकरण का मानकीकरण
- वर्तनी का मानकीकरण।
- शिक्षा मंत्रालय के निर्देश पर केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा देवनागरी का मानकीकरण, वैज्ञानिक ढंग से देवनागरी लिखने के लिये एकरूपता के प्रयास।
- यूनिकोड का विकास।

2.9. बोलचाल की भाषा

भाषाविदों के अनुसार हिन्दी के चार प्रमुख रूप या शैलियाँ हैं:

1. **उच्च हिन्दी**–हिन्दी का मानकीकृत रूप, जिसकी लिपि देवनागरी है। इसमें संस्कृत भाषा के कई शब्द हैं, जिन्होंने फ़ारसी और अरबी के कई शब्दों की जगह ले ली है। इसे शुद्ध हिन्दी भी कहते हैं। आजकल इसमें अंग्रेजी के भी कई शब्द आ गये हैं (खासतौर पर बोलचाल की भाषा में)। यह खड़ी बोली पर आधारित है, जो दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्रों में बोली जाती है।
2. **दक्खिनी**–हिन्दी का यह रूप जो हैदराबाद और उसके आसपास की जगहों में बोला जाता है। इसमें फ़ारसी-अरबी के शब्द उर्दू की अपेक्षा कम होते हैं।
3. **रेख़्ता**–उर्दू का वह रूप जो शायरी में प्रयुक्त होता है।
4. **उर्दू**–हिन्दी का वह रूप जो देवनागरी लिपि के बजाय फ़ारसी-अरबी लिपि में लिखा जाता है। इसमें संस्कृत के शब्द कम होते हैं और फ़ारसी-अरबी के शब्द अधिक। यह भी खड़ी बोली पर ही आधारित है।

हिन्दी और उर्दू दोनों को मिलाकर हिन्दुस्तानी भाषा कहा जाता है। हिन्दुस्तानी मानकीकृत हिन्दी और मानकीकृत उर्दू के बोलचाल की भाषा है। इसमें शुद्ध संस्कृत और शुद्ध फ़ारसी–अरबी दोनों के शब्द कम होते हैं और तद्भव शब्द अधिक। उच्च हिन्दी भारतीय संघ की राजभाषा है (अनुच्छेद–343, भारतीय संविधान)। यह इन भारतीय राज्यों की भी राजभाषा है: उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, मध्य प्रदेश, उत्तरांचल, हिमाचल प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, हरियाणा और दिल्ली। इन राज्यों के अतिरिक्त महाराष्ट्र, गुजरात, पश्चिम बंगाल, पंजाब और हिन्दी भाषी राज्यों से लगते अन्य राज्यों में भी हिन्दी बोलने वालों की अच्छी संख्या है। उर्दू पाकिस्तान की और भारतीय राज्य जम्मू और कश्मीर की राजभाषा है।

2.10. रचनात्मक भाषा

शब्दावली

हिन्दी शब्दावली में मुख्यत: दो वर्ग हैं–

तत्सम शब्द–ये वे शब्द हैं जिनको संस्कृत से बिना कोई रूप बदले ले लिया गया है। जैसे अग्नि, दुग्ध, दन्त, मुख।

तद्भव शब्द–ये वे शब्द हैं जिनका जन्म संस्कृत या प्राकृत में हुआ था, लेकिन उनमें काफ़ी ऐतिहासिक बदलाव आया है। जैसे–आग, दूध, दाँत, मुँह।

इसके अतिरिक्त हिन्दी में कुछ देशज शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। देशज का अर्थ है– 'जो देश में ही उपजा या बना हो'। जो न तो विदेशी हो और न किसी दूसरी भाषा के शब्द से बना हो। ऐसा शब्द जो न संस्कृत हो, न संस्कृत का अपभ्रंश हो और न किसी दूसरी भाषा के शब्द से बना हो, बल्कि किसी प्रदेश के लोगों ने बोल-चाल में ही बना लिया हो। जैसे– खटिया, लुटिया

इसके अलावा हिन्दी में कई शब्द अरबी, फ़ारसी, तुर्की, अंग्रेजी आदि से भी आये हैं। इन्हें विदेशी शब्द कह सकते हैं।

जिस हिन्दी में अरबी, फ़ारसी और अंग्रेजी के शब्द लगभग पूरी तरह से हटाकर तत्सम शब्दों को ही प्रयोग में लाया जाता है, उसे "शुद्ध हिन्दी" कहते हैं।

ध्यातव्य–इनमें से ळ (मूर्धन्य पार्विक अन्तस्थ) एक अतिरिक्त व्यंजन है जिसका प्रयोग हिन्दी में नहीं होता है। मराठी और वैदिक संस्कृत में सभी का प्रयोग किया जाता है।

संस्कृत में ष का उच्चारण ऐसे होता था: जीभ की नोक को मूर्धा (मुँह की छत) की ओर उठाकर श जैसी आवाज़ करना। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यंदिनि शाखा में कुछ वाक़्यात में ष का उच्चारण ख की तरह करना मान्य था। आधुनिक हिन्दी में ष का उच्चारण पूरी तरह श की तरह होता है।

हिन्दी में ण का उच्चारण कभी-कभी ड़ की तरह होता है, यानी कि जीभ मुँह की छत को एक ज़ोरदार ठोकर मारती है। परन्तु इसका शुद्ध उच्चारण जिह्वा को मूर्धा (मुँह की छत; जहाँ से 'ट' का उच्चारण करते हैं) पर लगाकर न की तरह का अनुनासिक स्वर निकालकर होता है।

नुक़्तायुक्त ध्वनियाँ–ये ध्वनियाँ मुख्यत: अरबी और फ़ारसी भाषाओं से उधार ली गयी हैं। इनका स्रोत संस्कृत नहीं है। देवनागरी लिपि में ये सबसे क़रीबी संस्कृत के वर्णाक्षर के नीचे नुक़्ता (बिन्दु) लगाकर लिखे जाते हैं। किन्तु आजकल हिन्दी में नुक्ता लगाने की प्रथा को लोग अनावश्यक मानने लगे हैं और ऐसा माना जाने लगा है कि नुक्ते का प्रयोग केवल तब किया जाये जब अरबी/उर्दू/फ़ारसी वाले अपनी भाषा को देवनागरी में लिखना चाहते हों।

2.11. हिन्दी भाषा के विविध रूप

2.11.1 सामान्य भाषा

नोट

प्रत्येक भाषा के अपने नियम, अपनी व्यवस्था होती है। भाषा का व्याकरण इसी व्यवस्था की व्याख्या होता है। रचनाकार या लेखक इन्हीं नियमों में बंधकर अपना कार्य करता है। सामान्य भाषा की नियमबद्धता काव्य भाषा के स्वच्छन्द और लचीले व्यक्तित्व के अधिक अनुकूल नहीं होती। इसका कारण यह है कि सामान्य भाषा सामान्य अनुभवों की अभिव्यक्ति करती है और अपने इस कार्य के लिए वह समर्थ होती है। इसके विपरीत विशिष्ट भाषा अपने विशिष्ट अनुभवों की अभिव्यक्ति करती है। इस कार्य के लिए सामान्य भाषा के नियम तथा बंधन पर्याप्त नहीं होते। अपनी अभिव्यक्ति हेतु उसे इन नियम तथा व्यवस्थाओं को तोड़ना आवश्यक हो जाता है और ऐसी भाषा विशिष्ट भाषा अथवा काव्य भाषा का स्थान ग्रहण करती है।

हिन्दी नवगीतों में रूपीय विचलन प्रयोग–सामान्य भाषा के नियम, बंधन, चलन अथवा पथ छोड़कर नए का अनुसरण करना, नए पथ पर चलना ही विचलन कहलाता है। विचलन मात्र विचलन के लिए नहीं वरन् सोद्देश्य होना चाहिए। यह सोद्देश्य विशिष्ट काव्यानुभव की अभिव्यक्ति से जुड़ी होने में है। उद्देश्य से विचलित होकर किया गया विचलन व्यर्थ हो जाता है। विचलन का प्रयोग संयम एवं कौशल से किया जाना चाहिए। ऐसे प्रयोगों के माध्यम से कम से कम विचलन के द्वारा अधिक से अधिक अर्थगर्भता लाने का यत्न किया जाता है। नवीन संभावित अर्थ के लिए विचलन को उपयोग में लाया जाता है। विचलन का प्रयोग रचनाकार की उत्कृष्ट लेखन क्षमता का प्रतीक है। अपनी भाषा को काव्य भाषा बनाने तथा उसके अन्तर्गत नवीनता का समावेश करने हेतु रचनाकार विचलन का सहारा लेता है।

हिन्दी नवगीतों में भी विचलनगत विशिष्ट प्रयोग देखने को मिलते हैं। विचलनयुक्त प्रयोगों के कारण नवगीतों में सौन्दर्य की वृद्धि हुई है। गीतकार अपने को भाषायी उपकरणों के माध्यम से रचना में प्रकट करता है। काव्य सृजन में कभी-कभी भाषा के नियम बन्धन टूट जाते हैं और काव्य भाषा अपने नये रचाव के साथ जन्म लेती है। यह नया संरचनात्मक प्रभाव रूपीय विचलन के रूप में दिखाई पड़ता है। वैसे रूप विचलन की संभावनायें बहुत ही सीमित मात्रा में पायी जाती हैं। व्याकरणिक रूप निश्चित एवं सीमित होने के कारण उनसे हटकर पदों के रूपों का प्रयोग अपरिनिष्ठ माना जाता है। इसलिए रूप विचलन के प्रयोग यत्र-तत्र और बहुत ही सीमित मात्रा में मिलते हैं। नवगीतों में रूपीय विचलन मुख्यत: तीन रूपों में देखने को मिलता है–कारकीय विचलन के रूप में, लिंग विचलन के रूप में तथा वचन विचलन के रूप में। अन्य रूपों में विचलन गौड़ रूप में मिलता है।

कारकीय विचलन में गीतकार ने लीक से हटकर भिन्न कारक चिह्नों का प्रयोग किया है जैसे:

पर्वतों में उतरती हुई

घाटियाँ पार करती हुई।

उद्धरण में गीतकार ने 'से' के स्थान पर 'में' कारक चिह्न का प्रयोग किया है। क्योंकि उचित वाक्य है 'पर्वतों से उतरती हुई' क्योंकि यहाँ पर नदी का पर्वतों से गिरना चित्रित किया गया है इसलिए 'से' कारक चिह्न ही सही प्रतीत होता है। गीतकार ने कारकीय विचलन को अपनाने के लिए 'से' कारक चिह्न के स्थान पर 'में' कारक चिह्न का प्रयोग किया है।

टूटे आस्तीन का बटन

या कुर्ते की खुले सिंवन

उपर्युक्त उद्धरण में गीतकार ने 'का' कारकीय चिह्न का प्रयोग किया है। यहाँ पर 'से' कारकीय चिह्न के स्थान पर 'का' कारक चिह्न का प्रयोग किया है क्योंकि उचित वाक्य है-'टूटे आस्तीन से बटन' यहाँ पर आस्तीन से बटन के टूटकर गिरने का भाव है। कारकीय विचलन को अपनाने के लिए गीतकार ने 'से' के स्थान पर 'का' कारक चिह्न का प्रयोग किया है।

कमरे-कमरे बाहर का नंगापन बोकर

आंगन-आंगन को जंगल से जोड़ रही है।

उद्धरण की प्रथम पंक्ति में गीतकार ने कारकीय चिह्न का लोप कर दिया है। यहाँ पर गीतकार ने 'में' कारक चिह्न का लोप कर दिया है क्योंकि उचित वाक्य होगा-कमरे-कमरे में बाहर का नंगापन बोकर, आंगन-आंगन को जंगल से जोड़ रही है। अत: गीतकार ने वाक्य में 'में' कारक चिह्न का लोप कर दिया है। कारक चिह्न का लोप होना कारकीय विचलन को दर्शाता है।

बन्द शीशे के घरों में लोग

बाहर निकल आए।

नवगीत की उपर्युक्त पंक्ति में गीतकार ने 'में' कारक चिह्न का प्रयोग किया है जो एक विचलनयुक्त चयन है क्योंकि उचित वाक्य है-बन्द शीशे के घरों से लोग बाहर निकल आए। अत: वाक्य में 'से' कारक चिह्न के स्थान पर 'में' कारक चिह्न का प्रयोग किया गया है। 'से' कारक चिह्न के स्थान पर 'में' कारक चिह्न का प्रयोग एक विचलनयुक्त चयन है।

दोनों हाथ दूर से झुककर

करती चाँद - प्रणाम।

नवगीत की उपर्युक्त पंक्तियों में कारकीय चिह्नों का लोप कर दिया गया है तथा ऐसा कर गीतकार ने विचलन को अपनाया है। नवगीत की इन पंक्तियों में गीतकार ने 'से' तथा 'को' कारक चिह्न का लोप किया है। क्योंकि उचित वाक्य है– 'दोनों हाथ से दूर से झुककर करती चाँद को प्रणाम'। स्पष्ट है कि 'से' तथा 'को' कारक चिह्न का लोप कारकीय विचलन को अपनाने के लिए किया गया है। हिन्दी नवगीतों में रूपीय विचलन के अंतर्गत कारकीय विचलन को यत्र-तत्र महत्त्व प्रदान किया गया है तथा नवगीतकारों ने इसे पूर्ण क्षमता के साथ अपनाने का प्रयास किया है। रूपीय विचलन के अन्तर्गत गीतकार कारकीय विचलन के साथ-साथ लिंग रूप में विचलन को अपनाने का प्रयास भी करता है। ऐसा प्रयास हिन्दी नवगीतों में भी यत्र-तत्र किया गया है।

टूटे आस्तीन का बटन या कुर्ते की खुले सिंवन।

नवगीत की उपर्युक्त पंक्ति में गीतकार ने विपरीत लिंग का चयनकर विचलन को अपनाने का प्रयास किया है। बटन स्त्रीलिंग का शब्द है इसलिए वाक्य में सम्बन्धित शब्द भी समान लिंग के होने चाहिए। इसके विपरीत गीतकार ने टूटे शब्द का चयन किया है जो पुल्लिंग के लिए प्रयोग में लाया जाता है। यहाँ पर टूटे शब्द के स्थान पर टूटी शब्द का चयन ही उचित चयन है। इस वाक्य में पूर्व में बताया जा चुका है कि गीतकार ने कारकीय विचलन को भी अपनाया है। अत: गीतकार ने इस पंक्ति में दो स्थानों पर रूपीय विचलन को अपनाया है जो गीतकार की लेखन क्षमता को दर्शाता है। इस छोटे से वाक्य को सामान्य रूप से देखें तो वाक्य होगा- 'टूटी आस्तीन से बटन' इसके विपरीत वाक्य का चयन किया गया है- 'टूटे आस्तीन का बटन'। जो एक विचलन युक्त चयन है। द्वितीय पंक्ति में गीतकार ने सिंवन शब्द का चयन किया है। जो एक स्त्रीलिंग का शब्द है। नियमानुसार सम्बद्ध शब्द भी समान लिंग के होने चाहिए इसके विपरीत गीतकार ने खुले शब्द का चयन किया है जो पुल्लिंग का शब्द है। इसलिए खुले शब्द के स्थान पर खुली शब्द का चयन नियमानुसार होना चाहिए। यह प्रयोग गीतकार ने विचलन को अपनाने के लिए किया है। क्योंकि उचित वाक्य होगा 'या कुर्ते की खुली सिवन'। अत: प्रस्तुत उद्धरण रूपीय विचलन का अद्भुत प्रयोग है।

दर्पण पर सिन्दूरी रेख नहीं

चीज नहीं मिलती रख दो जहाँ।

नवगीत की उपर्युक्त पंक्ति में गीतकार ने सिन्दूरी शब्द का चयन किया है जो एक स्त्रीलिंग का शब्द है अत: इससे सम्बद्ध शब्द भी समान लिंग का होना चाहिए परन्तु गीतकार ने सिन्दूरी शब्द के साथ रेख शब्द का चयन किया है जो विपरीत लिंग का शब्द है अत: यहाँ पर रेख शब्द के स्थान पर रेखा

शब्द का चयन उचित प्रतीत होता है। इस शब्द के चयन के पश्चात् वाक्य होता– दर्पण पर सिन्दूरी रेखा नहीं। अत: स्पष्ट है कि गीतकार ने रूपीय विचलन को अपनाने हेतु रेखा शब्द के स्थान पर रेख शब्द का चयन किया है।

"लेकिन अब गीतों की स्वच्छ मुंडेरी पर

चिन्तन की छत पर भावों के आंगन में।"

नोट

उपर्युक्त उद्धरण में गीतकार ने मुंडेरी शब्द का चयन किया है जो स्त्रीलिंग का शब्द है जबकि वाक्यानुसार पंक्ति में पुल्लिंग शब्द का चयन ही उचित है। अत: मुंडेरी शब्द के स्थान पर मुंडेर शब्द का चयन ही उचित चयन है। क्योंकि गीत शब्द पुल्लिंग शब्द है अत: पुल्लिंग शब्द ही उचित है अत: वाक्य होगा–'लेकिन अब गीतों की स्वच्छ मुंडेर पर चिन्तन की छत पर भावों के आंगन में'। अत: स्पष्ट है कि गीतकार ने मुंडेर शब्द के स्थान पर मुंडेरी शब्द का चयन कर विचलन को अपनाने का प्रयास किया है।

हिन्दी नवगीतों में रूपीय विचलन के अन्तर्गत कारक, लिंग के साथ-साथ वचन को भी महत्त्व प्रदान किया गया है। गीतकारों ने वचन के अन्तर्गत विपरीत वचन का प्रयोग कर विचलन को अपनाने का प्रयास किया है-

हर तरफ चीख चिल्लाहटें

हर तरफ सुन रहा सिसकियाँ।

उद्धरण में गीतकार ने चीख-चिल्लाहटें शब्द का चयन किया है। यहाँ पर चीख शब्द एकवचन है तथा चिल्लाहटें शब्द बहुवचन है। जबकि नियमानुसार एकवचन के साथ एकवचन का ही शब्द प्रयोग में लाना चाहिए अर्थात चीख– चिल्लाहटें शब्द के स्थान पर चीख चिल्लाहट शब्द का प्रयोग ही उचित है। अत: चीख-चिल्लाहटें शब्द का चयन एक विचलन युक्त चयन है।

जलते जंगले जैसे देश

और कत्लगाह से नगर

नवगीत की उपर्युक्त पंक्ति में गीतकार ने जंगले शब्द का चयन किया है। गीतकार ने यहाँ पर जंगल शब्द के स्थान पर जंगले शब्द का चयन किया है अर्थात् एकवचन के स्थान पर बहुवचन शब्द का चयन किया गया है। गीतकार ने एकवचन युक्त शब्द के स्थान पर बहुवचन युक्त शब्द का चयन कर रूपीय विचलन को अपनाया है।

भीड़ों के इस दलदल में

हंस-हंसकर धसते हैं लोग।

उपर्युक्त उद्धरण में गीतकार ने भीड़ों शब्द का चयन किया है जो एक विचलन युक्त चयन है क्योंकि भीड़ शब्द स्वयं में बहुवचन को दर्शाता है तथा भीड़ों शब्द स्वयं में निरर्थक सा प्रतीत होता है। इसलिए उचित वाक्य होगा-भीड़ के इस दलदल में हंस-हंसकर धसते हैं लोग। अत: स्पष्ट है कि भीड़ के स्थान पर भीड़ों शब्द का चयन एक विचलनयुक्त चयन है।

'जीवन की इन रतारों को अब भी बांधे कच्चा धागा

सुबह गया घर शाम न लौटे उससे बढ़कर कौन अभागा।

नवगीत के इस उद्धरण की द्वितीय पंक्ति में गीतकार ने लौटे शब्द का चयन किया है। लौटे शब्द बहुवचन युक्त शब्द है जबकि वाक्यानुसार यहाँ पर एकवचन युक्त शब्द 'लौटा' ही उचित था। गीतकार ने इस पंक्ति में रूपीय विचलन को अपनाने हेतु कारक तथा वचन का सहारा लिया है। कारक विचलन के सम्बन्ध में पूर्व में चर्चा की जा चुकी है। इस पंक्ति में गीतकार ने दो स्थानों पर कारक चिह्नों का लोप किया है तथा एकवचन के स्थान पर बहुवचन शब्द का प्रयोग कर विचलन को अपनाया है क्योंकि उचित वाक्य है- 'सुबह गया घर से शाम को न लौटा उससे बढ़कर कौन अभागा'। अत: सम्पूर्ण वाक्य किसी एक व्यक्ति के सम्बन्ध में है। इसलिए एकवचन युक्त शब्द लौटा ही उचित है। रूपीय विचलन को अपनाने हेतु गीतकार ने यहाँ पर अद्भुत प्रयोग को अपनाया है।

'दोनों हाथ दूर से झुककर
करती चाँद प्रणाम'।

उपर्युक्त उद्धरण में गीतकार ने 'हाथ' शब्द का चयन किया है। हाथ शब्द एकवचन युक्त शब्द है। क्योंकि वाक्य में हाथ शब्द का प्रयोग प्रणाम करने के भाव के लिए किया गया है। इसके अतिरिक्त 'हाथ' शब्द से पूर्व 'दोनों' शब्द का प्रयोग किया गया है। दोनों शब्द के साथ हाथ शब्द का प्रयोग निरर्थक सा प्रतीत होता है। अत: 'हाथ' शब्द के स्थान पर हाथों शब्द का प्रयोग ही उचित प्रयोग है। अगर सम्पूर्ण वाक्य को देखें तो उचित वाक्य होगा- दोनों हाथों से झुककर करती चाँद प्रणाम। अर्थात् इस उचित वाक्य के द्वारा स्पष्ट है कि गीतकार ने वचन कारक विचलन को अपनाकर रूपीय विचलन को महत्त्व प्रदान किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रूपीय विचलन को व्याकरणिक रूपों के माध्यम से अपनाया जाता है ऐसा कर गीतकार या रचनाकार अपने गीतों अथवा रचना में नवीनता का समावेश करता है। हिन्दी नवगीतों में भी व्याकरणिक रूपों को महत्त्व दिया गया है। नवगीतकारों ने अपने गीतों में कारक, लिंग तथा वचन के माध्यम से रूपीय विचलन को अपनाने का प्रयास किया है तथा नवगीतों के सौन्दर्य में वृद्धि की है।

2.11.2 मातृभाषा

किसी ने सही कहा है कि "बच्चा जिस भाषा में रोता है वही उसकी मातृभाषा कहलाती है।" जब भाषा की बात आती है तब स्वाभाविक तौर पर उससे जुड़ी हर बात भावुकता से जुड़ जाती है। भारतीय सभ्यता में भाषा को माता का रूप माना जाता है। हर मनुष्य की तीन माताएँ होती हैं–उसकी मातृभूमि, उसकी मातृभाषा और उसको पैदा करने वाली माता। इन वाक्यों को पढ़कर आपके अंदर जो भाव उत्पन्न हुए वे सारे भाव भाषा के प्रति आपके परिचय का परिणाम है। यदि यही बात किसी अन्य भाषा में लिखी जाए तो वह आपके लिए इतनी भावुकता पैदा करने वाली नहीं होगी जितनी आपकी मातृभाषा से उत्पन्न होती है। इसलिए उपरोक्त तीनों माताओं का ऋण चुकाना हर मनुष्य का धर्म है।

मातृभाषा विकास परिषद्

मातृभाषा विकास परिषद् हिन्दी एवं भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने एवं उनके विकास को समर्पित संस्था है।

उद्देश्य

1. भारत संघ तथा इसके विभिन्न राज्यों में संविधान के अधीन निर्मित राजभाषा हिन्दी समेत अन्य प्रादेशिक भाषाओं से संबंधित नीतियों को शिक्षा के क्षेत्र और अन्य सरकारी कामकाज में लागू कराने हेतु प्रयास करना।
2. शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम अनिवार्यत: शिशु की मातृभाषा हो, इसे सुनिश्चित करने के लिए प्रयास करना।
3. राजभाषा हिन्दी समेत अन्य प्रादेशिक भाषाओं को प्राथमिक स्तर से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए प्रयास करना।
4. पाठ्य-पुस्तकों/अनुपूरक पाठ्य सामग्री/परीक्षा प्रश्न-पत्रों आदि के प्रकाशनों में हिन्दी समेत अन्य भारतीय भाषाओं की मानक तथा अधिकृत तकनीकी शब्दावली के प्रयोग को सुनिश्चित करवाना।
5. सरकारी कामकाज और न्यायालयों में भारतीय भाषाओं के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए प्रयास करना जिससे देश वास्तविक रूप में स्वतंत्र कहला सके।

मातृभाषा में शिक्षा का महत्त्व

सच तो यह है कि आजादी के बाद मातृभाषा हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के उत्थान का जो सपना देखा गया था अब वह सपना दस्तावेजों, कार्यक्रमों तथा संस्थाओं में दबकर रह गया है। कुछ दु:खांत घटनाएं संचार माध्यमों में जगह पा जाती हैं। समस्या का स्वरूप अनेक प्रकार से चिंताग्रस्त करने वाला है।

नोट

देश में लाखों ऐसे स्कूल हैं जहाँ केवल एक मानदेय प्राप्त अध्यापक कक्षा एक से पाँच तक के सारे विषय पढ़ाता है। क्या ये बच्चे कभी उनके साथ प्रतिस्पर्धा में बराबरी से खड़े हो पाएंगे जो देश के प्रतिष्ठित स्कूलों में अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाई कर रहे हैं? आज उपलब्धियों के बड़े आंकड़े सामने आते हैं कि 21 करोड़ बच्चे स्कूल जा रहे हैं, 15 करोड़ मध्याह्न भोजन व्यवस्था से लाभान्वित हो रहे हैं, स्कूलों की उपलब्धता लगभग 98 प्रतिशत के लिए एक किलोमीटर के दायरे में उपलब्ध है आदि। यही नहीं, अधिकांश राज्य सरकारें अंग्रेजी पढ़ाने की व्यवस्था कक्षा एक या दो से कर चुकी हैं और इसे बड़ी उपलब्धि के रूप में गिनाती भी हैं। आज अगर भारत के युवाओं से पूछें तो वे भी यही कहेंगे- अगर उनकी अंग्रेजी अच्छी होती या फिर वे किसी कान्वेंट या पब्लिक स्कूल में पढ़े होते तो जीवन सफल हो जाता। आजादी के बाद पहले दो दशकों में पूरी आशा थी कि अंग्रेजी का वर्चस्व कम होगा। हिन्दी के विरोध के कारण सरकारें सशंकित हुईं जिसका खामियाजा दूसरी भारतीय भाषाओं को भुगतना पड़ रहा है। तीन-चार दशक तो इसी में बीते कि अंग्रेजी में प्रति वर्ष करोड़ों बच्चे हाईस्कूल परीक्षा में फेल होते रहे।

प्रतिवर्ष जब शिक्षा का नया सत्र प्रारंभ होता है तब दिल्ली के पब्लिक स्कूलों में प्लेस्कूल, नर्सरी तथा केजी में प्रवेश को लेकर राष्ट्रव्यापी चर्चा होती है, लेकिन दिल्ली के भवनविहीन, शौचालय विहीन, पानी-बिजली विहीन स्कूलों पर कभी चर्चा नहीं होती। प्रवेश के समय जिन पब्लिक स्कूलों की चर्चा उस समय सुर्खियों में रहती है उसका सबसे महत्त्वपूर्ण कारक एक ही होता है– वहाँ अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा दी जाती है और जहाँ अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा दी जाएगी, श्रेष्ठता तो वहीं निवास करेगी। अंग्रेज, अंग्रेजी तथा अंग्रेजियत के समक्ष अपने को नीचा देखने की हमारी प्रवृत्ति सदियों पुरानी है, लेकिन व्यवस्था ने अभी भी उसे बनाए रखा है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अनेक देश स्वतंत्र हुए थे तथा इनमें से अनेक ने अभूतपूर्व प्रगति की है। उसके पहले के सोवियत संघ, चीन और जापान के उदाहरण हैं। जिस भी देश ने अपनी भाषा को महत्त्व दिया वह अंग्रेजी के कारण पीछे नहीं रहा। रूस ने जब अपना पहला अंतरिक्ष यान स्पुतनिक अंतरिक्ष में भेजा था तब अमेरिका में तहलका मच गया था। उस समय रूस में विज्ञान और तकनीक के जर्नल केवल रूसी भाषा में प्रकाशित होते थे। पश्चिमी देशों को स्वयं उनके अनुवाद तथा प्रकाशन का उत्तरदायित्व लेना पड़ा। चीन की वैज्ञानिक प्रगति अंग्रेजी भाषा पर निर्भर नहीं रही।

आज अकसर यह उदाहरण दिया जाता है कि चीन में हर जगह लोग अंग्रेजी बोलना सीख रहे हैं और इसके लिए विशेष रूप से बजट आवंटित किया गया है, लेकिन यहाँ पर यह उल्लेख नहीं किया जाता है कि चीन ने समान स्कूल व्यवस्था भी लागू कर ली है। वहाँ कुछ विशिष्ट स्कूलों में प्रवेश के लिए उठा-पटक नहीं करनी पड़ती। चीन ने यह शैक्षिक अवधारणा भी पूरी तरह मान ली है कि प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा में ही दी जानी चाहिए और ऐसा न करना बच्चों के साथ मानसिक क्रूरता है। मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करते हुए बच्चे अन्य भाषा को आनंदपूर्वक सीखें तो यह सर्वथा न्यायसंगत तथा उचित होगा। साठ साल से अधिक के अनुभव के बाद भी हमारी शिक्षा व्यवस्था में अनेक कमियां बनी हुई हैं, जिनका निराकरण केवल दृढ़ इच्छाशक्ति से ही संभव है। प्रसिद्ध समाज वैज्ञानिक श्यामाचरण दुबे ने कहा था कि शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य परंपरा की धरोहर को एक पीढ़ी से दूसरी तक पहुँचाना है। इस प्रक्रिया में परंपरा का सृजनात्मक मूल्यांकन भी शामिल होता है, लेकिन क्या हमारी शिक्षा संस्थाएँ भारतीय परंपरा की तलाश कर रही हैं? क्या वे भारतीय परंपरा की पोषक हैं? वर्तमान शिक्षा प्रणाली आज पीढ़ी और परंपरा में अलगाव पैदा कर रही है। जनसाधारण से उसकी दूरी बढ़ती जा रही है।

आधुनिकीकरण की भ्रमपूर्ण व्याख्याओं के कारण हमारी नई पीढ़ी में धुरीहीनता आ रही है। वह न तो परंपरा से पोषण पा रही है और न ही उसमें पश्चिम की सांस्कृतिक विशेषताएँ नजर आ रही हैं। मातृभाषा में शिक्षण के साथ अनेक अन्य आवश्यकताएं भी हैं जो हर भारतीय को भारत से जोड़ने और विश्व को समझने में सक्षम होने के लिए आवश्यक हैं। मातृभाषा का इसमें अप्रतिम महत्त्व है, इससे इनकार बेमानी होगा। ऐसे में शिक्षा में राजनीतिक लाभ को ध्यान में रखकर बदलाव करने के स्थान पर शैक्षणिक दृष्टिकोण से आवश्यक बदलाव लाना आज की परिस्थिति में सबसे सराहनीय कदम होगा। भविष्य को ऐसे ही प्रभावशाली प्रयासों की आवश्यकता है।

अपनी मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करना जन्मसिद्ध अधिकार है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने मातृभाषा को बड़े सम्मान से देखा और कहा कि अपनी भाषा में शिक्षा पाना जन्मसिद्ध अधिकार है। मातृभाषा में शिक्षा दी जाए या नहीं इस तरह की कोई बहस होना ही बेकार है, उन्होंने कहा है कि अपनी मातृभाषा में शिक्षा पाने का जन्मसिद्ध अधिकार भी इस अभागे देश में तर्क और बहस-मुहाबिसे का विषय बना हुआ है। उनकी मान्यता थी कि जिस तरह हमने माँ की गोद में जन्म लिया है, उसी तरह मातृभाषा की गोद में जन्म लिया है, ये दोनों माताएँ हमारे लिए सजीव और अपरिहार्य हैं। रवीन्द्रनाथ ने मातृभाषा की महत्ता को समझा और उसे समझाने का प्रयास भी किया।

वर्तमान में यह धारणा बलवती होती जा रही है कि विद्यार्थियों को मातृभाषा में शिक्षा देना मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक रूप से वांछनीय है क्योंकि विद्यालय आने पर बच्चे यदि अपनी भाषा को व्यवहृत होते देखते हैं, तो वे विद्यालय में आत्मीयता का अनुभव करने लगते हैं और यदि उन्हें सब कुछ उन्हीं की भाषा में पढ़ाया जाता है, तो उनके लिए सारी चीजों को समझना बेहद आसान हो जाता है।

सर्वसाधारण की शिक्षा के विषय में विचार करते हुए गुरुदेव ने अपनी चिंता इन शब्दों में प्रकट की। मातृभाषा में यदि शिक्षा की धारा प्रशस्त न हो तो इस विद्याहीन देश में मरूवासी मन का क्या होगा। इस कथन से जाहिर होता है कि उनके मन में यह विचार था कि इस देश में लोगों को शिक्षित करना अपेक्षित है और मातृभाषा के माध्यम से ही शिक्षा प्रदान करना ही सबसे प्रभावी कदम है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी 'निज भाषा' कहकर प्रकारांतर से मातृभाषा के महत्त्व को अपने निम्नलिखित बहुचर्चित दोहे में निर्दिष्ट किया है। निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल। बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटै न हिय को सूल।। वस्तुतः प्रत्येक चिंतक, रचनाकार मातृभाषा को महत्त्व देते हुए अपने-अपने ढंग से, उसके बारे में अपने मंतव्य प्रकट करता है। गुरुदेव रवीन्द्र ने जिस बात को अपने निबंध में अच्छी तरह से समझाया है, उसी बात को भारतेंदु ने कविता के माध्यम से लोगों को अवगत कराने की सफल चेष्टा की है।

इस संदर्भ में रवीन्द्रनाथ ने जापान का दृष्टांत रखा है कि इस देश में जितनी उन्नति हुई है, वह वहाँ की अपनी भाषा जापानी के ही कारण है। जापान ने अपनी भाषा की क्षमता पर भरोसा किया और अंग्रेजी के प्रभुत्त्व से जापानी भाषा को बचाकर रखा। गुरुदेव ने चिंतन-प्रक्रिया से गुजरते हुए जनसामान्य के लिए इस महत्त्वपूर्ण विचार को प्रस्तुत किया कि अनावश्यक को जिस परिमाण में हम अत्यावश्यक बना डालेंगे उसी परिमाण में हमारी शक्ति का अपव्यय होता चला जाएगा। धनी यूरोप के समान हमारे पास संबल नहीं है। यूरोपवालों के लिए जो सहज है हमारे लिए वही भार स्वरूप हो जाता है। सुगमता, सरलता और सहजता ही वास्तविक सभ्यता है। अत्यधिक आयोजन की जटिलता एक प्रकार की बर्बरता है।

ध्यातव्य है कि गुरुदेव ने उपर्युक्त विचार शिक्षा की समस्या पर विचार करते हुए प्रकट किए थे। इस तरह उनका मंतव्य स्पष्ट था कि शिक्षित होने के क्रम में अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि हमें अपने परिवेश के अनुरूप आचरण करना चाहिए और फिजूलखर्ची और आडंबर के प्रदर्शन से बचना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से हम अपनी अर्थ-व्यवस्था के दायरे में रहेंगे और दिखावा न करके हम प्रकारांतर में उन लोगों के अपमान करने के पाप से भी बच जाएंगे जो अर्थाभाव में दो जून की रोटी भी नहीं खा पा रहे हैं।

यूँ तो गुरुदेव ने अपने लेखन में शिक्षा से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर विचार किया है परंतु यहाँ उनमें से कुछ का उल्लेख इस आशय से किया गया है कि इस बात का अनुभव किया जा सके कि उन्होंने शिक्षा पर जो चिंतन किया है, उनके समय के समाज से सम्बन्ध होने के साथ-साथ आज के समय की शैक्षिक समस्याओं का परिचय कराता है और उनके समाधान के सुझाव प्रस्तुत करता है। इस रूप में उनके विचारों की सार्थकता तथा प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।

यदि हम लोग गुरुदेव के शैक्षिक विचारों से जुड़े बिंदुओं को ध्यान में रखें और उनके अनुरूप कार्य करें, तो वर्तमान समय की बहुत-सी समस्याओं से छुटकारा मिल सकता है, जिसका दूरगामी सकारात्मक परिणाम सामने आएगा।

नोट

2.11.3 अंतर्राष्ट्रीय भाषा

हम लोग जब भी किसी अंतर्राष्ट्रीय भाषा की बात करते हैं हमारे जेहन में मात्र एक भाषा आती है अंग्रेजी, इंटरनेशनल यानी इंग्लिश और हिन्दी? वह तो एकदम से देहाती भाषा है मात्र हिन्दी गो-पट्टी की भाषा, जिसे अब तक पूरे भारत देश के लोगों ने भी न तो समुचित मान्यता दी है और न ही हृदय से स्वीकार किया है। इसके विपरीत हम लोगों को देखिये जो यदि अंग्रेजी नहीं जानते हैं तो कहीं न कहीं अपने-आप को कुछ कमजोर और वंचित सा मानते हैं, जैसे कि हमारा समुचित विकास हुआ ही नहीं हो। यही नीति हमारी सरकारों की भी रहती है। ज्यादातर शासकीय स्थानों पर अंग्रेजी भाषा का ही प्रयोग होता है और हिन्दी की घोर अवहेलना होती है। आईआईएम के लिए होने वाले कैट परीक्षा के लिए तो हिन्दी भाषा में परीक्षा तक नहीं होती क्योंकि इन लोगों का यह मानना है कि भारत में अच्छा मैनेजर मात्र अंग्रेजी भाषा-भाषी ही हो सकता है।

यह है इस देश में हिन्दी की स्थिति, और इसी के साथ जुड़ा हुआ है एक छोटा सा वाक्य। मैं जब न्यूयार्क अंतर्राष्ट्रीय हवाईअड्डे से वापस भारत आ रही थी तो हवाई जहाज़ के बारे में अनाउंसमेंट करते समय अंग्रेजी के अलावा हिन्दी भाषा का भी प्रयोग किया गया था। मुझे यह सुनकर वास्तव में खुशी मिली थी और इस बात का भी एहसास हुआ था कि हिन्दी भाषा की मान्यता अमेरिका तक में दी जा रही है। पर अफ़सोस इस बात का कि अमेरिका जाते समय हमारे अपने देश के इंदिरा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे पर देखा गया था कि अनाउंसमेंट केवल अंग्रेजी भाषा में ही हो रहा था, तो इसका क्या मतलब हुआ, जिस हिन्दी को अमेरिका महत्त्व दे रहा है उसे हमारा भारत ढाक के तीन पात समझ रहा है।

2.11.4 माध्यम भाषा

यदि ज्ञान एवं चिंतन की कोई विधा किसी भाषा में नहीं उपलब्ध है, तो दोष तत्समाज का है न कि संबंधित भाषा का। इस पूरी प्रक्रिया में किसी समाज का समकालीन विकास की गति से संयोजन एवं संतुलन न बना पाने की स्थिति में भाषा की निरपेक्षता एवं क्षमता भी प्रश्नांकित होने लगती है और एक दौर के बाद उसकी स्थिति प्रायः हास्यास्पद हो जाती है। ऐसी ही स्थिति सूचना-प्रौद्योगिकी के स्थानीयकरण में अंग्रेजी के अतिरिक्त उन सभी भाषाओं की दिख रही है, जो कम्प्यूटर के विकास की गतिकी से तारतम्य नहीं बना पायीं हैं। हिन्दी इन सभी की साक्षी है। इसलिए इसके वर्तमान से संतुष्टि-भाव से अधिक भविष्य की चुनौतियों के समाधान के प्रति आग्रही प्रतिबद्धता से ही आस सँजोया जा सकता है और यह ई-मंच इसी दिशा में एक विनम्र प्रयास है। इसके माध्यम से भाषाविज्ञान एवं कृत्रिम बुद्धि से संबंधित विषयों को भारत में लोकप्रिय बनाने के साथ ही हिन्दी में वैज्ञानिक लेखन एवं मौलिक चिंतन को प्रोत्साहित किया जाएगा, जिससे प्राकृतिक भाषा संसाधन के क्षेत्र में शोधरत विद्वानों तथा उनके प्रयासों, अनुभवों एवं उपलब्धियों को जन-सामान्य तक पहुँचाया जा सके। साथ ही विभिन्न शोध-संस्थानों में अकादमिक हस्तक्षेप के द्वारा सार्थक संवाद हेतु एक सुलभ मंच उपलब्ध कराया जा सके, इससे विद्वानों को शोध एवं विकास के साथ ही लेखन के लिए भी प्रेरित किया जा सकता है। फलस्वरूप इस क्षेत्र में व्याप्त द्वितीयक स्रोतों के लेखन की स्वाभाविक संदिग्धता से भी बचा जा सकता है। यह मंच इस अनुशासन में प्रकाशित होने वाली पुस्तकों एवं विकसित सॉफ्टवेयरों तथा सिद्धान्तों की सम्यक समीक्षा भी करेगा, जिससे न सिर्फ उनको वांछित वर्ग के बीच लोकप्रिय कराया जा सके, बल्कि इन सभी की उपादेयता पर व्यापक बहस भी हो सके। यद्यपि इसकी अनुषंगी वेब-पत्रिका की माध्यम भाषा हिन्दी और अंग्रेजी होगी, लेकिन इसमें सभी भारतीय भाषाओं का समन्वय होगा और इसके जरिए इन सभी भाषाओं के साथ हिन्दी को अधिकाधिक स्तरों पर जोड़ा जा सकता है। इन सबके बावजूद यह अपनी प्रतिबद्धता के अनुरूप हिन्दी में, हिन्दी के लिए केन्द्रित होगी और इस प्रक्रिया में अंग्रेजी दिखती है, तो यह इस विषय का स्वाभाविक दबाव एवं हिन्दी की इनमें आगामी स्वीकार्यता के विश्वास का प्रतिरूप मात्र है।

2.12. शिक्षा का माध्यम हिन्दी भाषा

शिक्षा के माध्यम को लेकर आये दिन बहस होती रहती है। जिसमें से अधिकांश निरर्थक होती है, पर इन्सान जिस पृष्ठभूमि से आता हो और वहाँ जिस भाषा का प्रयोग होता है उसी माध्यम में उसे शिक्षा

मिलनी चाहिये। अपनी मातृभाषा में शिक्षा पाना हर बच्चे का जन्मसिद्ध अधिकार भी है और उसका सौभाग्य भी, इसी के चलते भारत के कई राज्यों में भाषा बचाव आंदोलन प्रायः होते रहते हैं। विषय का पक्षधर बनने की ओर मुझे भाषा की परिभाषा अत्यधिक प्रेरित करती है।

सेपिर के अनुसार, "मानवीय विचारों एवं भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाली ध्वनि रूपी व्यवस्था को भाषा कहते हैं"।

अर्थात मनुष्य की दो अनमोल विरासत वैचारिक समृद्धि एवं मानवीय संवेदना का स्वरूप कही जाने वाली भावनाओं की प्रतीकात्मक व्यवस्था। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि भाषा मानवीय भावनाओं एवं विचारों की द्योतक है। भाषा अभिव्यक्ति का सर्वाधिक विश्वसनीय माध्यम है। यही नहीं वह हमारे आंतरिक एवं बाह्य सृष्टि के निर्माण, विकास, हमारी अस्मिता, सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान का भी साधन है। भाषा के बिना मनुष्य सर्वथा अपूर्ण है और अपने इतिहास तथा परम्परा से विच्छिन्न है।

सामान्यतः भाषा को वैचारिक आदान-प्रदान का माध्यम कहा जा सकता है। भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसार "भाषा ऐच्छिक वाचिक ध्वनि-संकेतों की वह पद्धति है, जिसके द्वारा मानव परम्पराओं एवं विचारों का आदान-प्रदान करता है"। स्पष्ट ही इस कथन में भाषा के लिए चार बातों पर ध्यान दिया गया है–

1. भाषा एक पद्धति है, यानी एक सुसम्बद्ध और सुव्यवस्थित योजना या संघटन है, जिसमें कर्ता, कर्म, क्रिया, आदि व्यवस्थिति रूप में आ सकते हैं।
2. भाषा संकेतात्मक है अर्थात इसमें जो ध्वनियाँ उच्चारित होती हैं, उनका किसी वस्तु या कार्य से सम्बन्ध होता है। ये ध्वनियाँ संकेतात्मक या प्रतीकात्मक होती हैं।
3. भाषा वाचिक ध्वनि-संकेत है, अर्थात् मनुष्य अपनी वागिन्द्रिय की सहायता से संकेतों का उच्चारण करता है, वे ही भाषा के अंतर्गत आते हैं।
4. भाषा ऐच्छिक संकेत है। ऐच्छिक से तात्पर्य है– ऐच्छिक, अर्थात् किसी भी विशेष ध्वनि का किसी अर्थ से मौलिक अथवा दार्शनिक सम्बन्ध नहीं होता। प्रत्येक भाषा में किसी विशेष ध्वनि को किसी विशेष अर्थ का वाचक 'मान लिया जाता' है। फिर वह उसी अर्थ के लिए रूढ़ हो जाता है। कहने का अर्थ यह है कि वह परम्परानुसार उसी अर्थ का वाचक हो जाता है। दूसरी भाषा में उस अर्थ का वाचक कोई दूसरा शब्द होगा।

हम व्यवहार में यह देखते हैं कि भाषा का सम्बन्ध एक व्यक्ति से लेकर सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि तक है। व्यक्ति और समाज के बीच व्यवहार में आने वाली इस परम्परा से अर्जित सम्पत्ति के अनेक रूप हैं। समाज सापेक्षता भाषा के लिए अनिवार्य है, ठीक वैसे ही जैसे व्यक्ति सापेक्षता और भाषा संकेतात्मक होती है अर्थात् वह एक 'प्रतीक-स्थिति' है। इसकी प्रतीकात्मक गतिविधि के चार प्रमुख संयोजक हैं: दो व्यक्ति– एक वह जो संबोधित करता है, दूसरा वह जिसे संबोधित किया जाता है, तीसरी सांकेतिक वस्तु और चौथी– प्रतीकात्मक संवाहक जो सांकेतिक वस्तु की ओर प्रतिनिधि भंगिमा के साथ संकेत करता है।

विकास की प्रक्रिया में भाषा का दायरा भी बढ़ता जाता है। यही नहीं एक समाज में एक जैसी भाषा बोलने वाले व्यक्तियों का बोलने का ढंग शब्द-भंडार, वाक्य-विन्यास आदि अलग-अलग हो जाने से उनकी भाषा में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। इसी को शैली कह सकते हैं।

इस विषय के पक्ष में कुछ दलीलें–

1. **मानवीय सभ्यता का एक अभिन्न हिस्सा**–मानवीय सभ्यता की कई धरोहरों की तरह भाषा भी एक धरोहर है। वह उस सभ्यता की पहचान है और उस सभ्यता का एक अनूठा स्वरूप भी एक पूरी समाज व्यवस्था भाषा के माध्यम से ही व्यक्त होती है। कई मानव सभ्यताओं के बारे में हमें भाषा के माध्यम से ही जानकारी मिलती है।
2. **व्यावहारिकता की दृष्टि से**–उदाहरण के तौर पर हम एक शब्द लेते हैं "नीम का पेड़" जिसे अंग्रेजी में "नीम ट्री" कहा जाता है। जब हम अंग्रेजी में नीम ट्री बोलते हैं तब हम सिर्फ एक पेड़ का जाति वाचक नाम बोल रहे हैं ऐसा महसूस होता है, पर जब हम नीम का पेड़

नोट

बोलते हैं तब वही "नीम का पेड़" यह शब्दों का समूह शीतलता का अहसास कराता है जो नीम के पेड़ से मिलती है। अर्थात् जो शब्द अन्य भाषा में केवल एक जानकारी के तौर पर महसूस हुआ वह मातृभाषा में पेड़ के गुण का अनुभव भी कराता है, यानि की हर शब्द के साथ एक भाव जुड़ा रहता है। अन्य भाषा में शिक्षा प्रदान करने से यह मर्यादा बन जाती है कि विद्यार्थी जानकारीप्रद बनता है पर वह मानवीय गुणों का अहसास नहीं कर पाता..!

3. **यूनाइटेड नेशन्स की एक रिपोर्ट में दो बातें सामने आईं**–अधिकांश बच्चे स्कूल जाने से कतराते हैं क्योंकि उनकी शिक्षा का माध्यम वह भाषा नहीं है जो भाषा घर में बोली जाती है। यूनाइटेड नेशन्स के बाल अधिकारों के घोषणा पत्र में भी यह कहा गया है कि बच्चों को उसी भाषा में शिक्षा प्रदान की जाये जिस भाषा का प्रयोग उसके माता-पिता, दादा-दादी, भाई-बहन एवं सारे पारिवारिक सदस्य करते हों।
4. **विवरणों के अनुसार**–अनुसंधानों के अनुसार हमारी पठनगति मातृभाषा में अधिकाधिक होती है क्योंकि उसके सारे शब्द परिचित होते हैं। अन्य माध्यम से पढ़ने वाले बच्चों को दो भाषाओं का बोझ उठाना पड़ता है और मासूम बच्चे यह भार सहन नहीं कर पाते और उनकी पठनक्षमता क्रमशः कम होती जाती है। इसे "न्यूरोलोजीकल थियरी ऑफ लर्निंग" कहते हैं जो वैश्विक स्तर पर स्वीकृत है।
5. **भाषा एक माध्यम है न कि प्रतिष्ठा का प्रतीक**–भाषा एक माध्यम है जिसके तहत हम इस सृष्टि के विभिन्न पहलुओं को जान पाते हैं। जिसके माध्यम से हम अपने विचारों को अभिव्यक्त कर पाते हैं। अपनी संवेदनाओं को मूर्तरूप दे पाते हैं। पर इसे एक प्रतिष्ठा का प्रतीक मानकर कई माता-पिता क्षेत्रीय भाषाओं की अवहेलना कर अन्य भाषाओं में अपने बालकों की शिक्षा करवाते हैं।

2.13. विश्व में भाषा का महत्त्व

यदि हम विश्व के अन्य देशों का अभ्यास करें तो यह प्रतीत होता है कि वे क्षेत्रीय भाषा को कितना महत्त्व देते हैं। स्वीडन में स्वीडिश, फिनलैंड में फिनीश, फ्रान्स में फेन्च, इटली में रोमन, ग्रीस में ग्रीक, जर्मनी में जर्मन, ब्रिटेन में अंग्रेजी, चाईना में चाईनीज और जापान में जापानीज भाषाएँ शिक्षा का माध्यम हैं। यदि हम यह सोचते हैं कि विकास को बढ़ावा देने के लिये शिक्षा के माध्यम के रूप में कोई अंतर्राष्ट्रीय भाषा ही मददगार साबित होगी तो यह हमारा भ्रम है। जापान में जापानीज का इस्तेमाल होता है फिर भी वह देश तकनीकी दृष्टि से विश्व में आगे है। चाईनीज बोलने वाली प्रजाति विश्व की सर्वोपरि महासत्ताओं में से एक कही जाती है।

स्वाभिमान के तौर पर भाषा–हर भाषा एक मानव सभ्यता का प्रतीक होती है। वह कई कालखंडों से गुजरकर मानवीय सभ्यता के विशेष गुण एवं लक्षणों को धारण किये होती है। यदि हम भारतीय इतिहास को ही देखें तो भारत के राज्यों के विभाजन में भाषाओं का स्थान अहम रहा है। ऐसे कई उदाहरण हैं जहाँ भाषाई दंगे भी हुये हैं। यह भाषा के प्रति लगाव एवं उससे उत्पन्न होने वाले स्वाभिमान को दर्शाती है।

2.14. सम्पर्क भाषा

भारत की भाषायी स्थिति और उसमें हिन्दी के स्थान को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी आज भारतीय जनता के बीच राष्ट्रीय संपर्क की भाषा है। हिन्दी की भाषागत विशेषता भी यह है कि उसे सीखना और व्यवहार में लाना अन्य भाषाओं की अपेक्षा ज्यादा सुविधाजनक और आसान है। हिन्दी भाषा में एक विशेषता यह भी है कि वह लोक भाषा की विशेषताओं से संपन्न है, बड़े पैमाने पर अशिक्षित लोचदार भाषा है, जिससे वह दूसरी भाषाओं में शब्दों, वाक्य-संरचना और बोलचालजन्य आग्रहों को स्वीकार करने में समर्थ है। इसके अलावा ध्यान देने की बात यह है कि हिन्दी में आज विभिन्न भारतीय भाषाओं का साहित्य लाया जा चुका है। विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखकों को हिन्दी के पाठक जानते हैं, उनके बारे

में जानते हैं। भारत की भाषायी विविधता के बीच हिन्दी की भाषायी पहचान मुख्यत: हिन्दी है। भारत के औद्योगिक प्रतिष्ठानों के आधार पर बने नगरों और महानगरों में भारत की राष्ट्रीय एकता और सामाजिक संस्कृति का स्वरूप देखने को मिलता है। इसी प्रसंग में कहना चाहता हूँ कि यदि हिन्दी-क्षेत्र के राज्य औद्योगिक रूप से और ज्यादा विकसित होते तो राष्ट्रीय एकता और भाषायी एकता का आधार और विस्तृत और मजबूत होता। लेकिन आज की स्थिति में भी भारत में हिन्दी की जो राष्ट्रीय भूमिका है, उतना भी उसके अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व को महसूस कराने में समर्थ है।

साम्राज्यवाद ने खुद मनुष्य का जो व्यापार अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में किया, उसके फलस्वरूप भारत से बड़ी तादाद में मजदूर दूसरे देशों में ले जाए गए। मारिशस, फिजी, दक्षिण अफ्रीका के अन्य कई देश, ब्रिटिश गुयना, त्रिनिडाड, सूरीनाम, न्यूजीलैंड आदि देशों में जो बड़ी संख्या में भारतीय मूल के लोग हैं, वे मुख्यत: हिन्दी भाषी हैं अथवा यह कहें कि वे हिन्दी जानते हैं, हिन्दी पढ़ते-लिखते हैं। नेपाल, पाकिस्तान, बंग्लादेश, भूटान और म्यांमार (बर्मा) में तो स्वभावत: हिन्दी भाषी जनता की संख्या बहुत बड़ी है। आधुनिक युग में नई संचार-व्यवस्था, आवागमन के नए साधनों की उपलब्धता और जीवन की नई जरूरतों से प्रेरित होकर इंग्लैंड, अमेरिका, कनाडा, फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस और यूरोप के अन्य अनेक देशों में भी भारत से जा बसे लोगों में हिन्दीभाषी लोग आज रह रहे हैं। हिन्दीभाषियों को अथवा हिन्दी जानने वालों की यह विशाल संख्या हिन्दी के अंतर्राष्ट्रीय संपर्क का साक्षात्कार कराती है। संख्या की दृष्टि से हिन्दी दुनिया की तीन बड़ी भाषाओं में से एक है, शेष दो हैं अंग्रेजी और चीनी। कुछ लोग तो कहते हैं कि हिन्दी जाननेवालों की संख्या दुनिया में अंग्रेजी जाननेवालों से ज्यादा है। आंकड़ों के खेल से अलग हिन्दी की अंतर्राष्ट्रीय भूमिका को स्थापित करने वाले कई तथ्य और हैं और वे तथ्य ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। एक बात तो यह है कि हिन्दी भाषा के साहित्य ने पिछली एक सदी में बड़ी तेजी से विकास किया है। वह कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना तथा चिंतनपरक साहित्य के क्षेत्रों में इतनी विकसित हुई है, इतनी ऊपर उठी है कि आज वह किसी भी भाषा के श्रेष्ठ साहित्य का मुकाबला कर सकती है। प्रेमचंद, निराला, जयशंकर प्रसाद, रामचंद्र शुक्ल, राहुल सांस्कृत्यायन, मुक्तिबोध, नागार्जुन आदि के लेखन के अनुवाद दुनिया की विभिन्न भाषाओं में हुए हैं। इस प्रक्रिया से हिन्दी के जरिए दुनिया की जनता से भारत की जनता का संवेदनात्मक संबंध कायम हुआ है। यह संबंध रचनात्मक और संवेदनात्मक तो है ही, सांस्कृतिक विनियम का रूप भी प्रस्तुत करता है। विगत साहित्य में भारतीय चेतना का प्रतिनिधित्व सबसे अधिक हिन्दी ही करती है। इतना ही नहीं, हिन्दी के माध्यम से दूसरी भाषाओं के साहित्य का परिचय भी विश्व का हिन्दी-संप्रदाय प्राप्त करता है। यह एक बड़ा कारण है कि दुनियाभर में हिन्दी का अध्ययन आज वे लोग भी कर रहे हैं, जो हिन्दीभाषी या भारतीय मूल के नहीं हैं। इस प्रकार आज की परिस्थिति में हिन्दी की एक अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी विकसित हो रही है।

उपर्युक्त तथ्यों और बातों से अलग अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आज के वित्तीय पूंजीवाद ने जो विशाल विश्व बाजार विकसित किया है, उसमें भारत का विशेष स्थान है। भारत में पूंजीवाद का विकास अवरोधों के बीच हुआ है, फिर भी देश के आजाद होने के बाद पूर्व सोवियत संघ तथा समाजवादी देशों की मदद से राष्ट्रीय पूंजीवाद का आर्थिक आत्मनिर्भरता का जो विकास हुआ, उससे भारत में एक बड़े मध्य वर्ग और नवधनाढ्य वर्ग का विकास हुआ है, जिसकी आबादी कम से कम पच्चीस करोड़ है। अमेरिका की बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रतिनिधियों तथा उसके विचारकों और सिद्धांतकारों ने कुछ साल पहले भारत के बारे में एक सेमिनार आयोजित करके इस बात पर विचार किया कि भारत में उनके लिए क्या गुंजाइश है। उनका निष्कर्ष यह था कि भारत मध्यवर्ग, उच्च वर्ग और नवधनाढ्य वर्ग के पच्चीस-तीस करोड़ लोग उनके माल का बाजार बनने के लिए काफी हैं। अब यह देखें कि पच्चीस-तीस करोड़ में हिन्दीभाषियों की संख्या बीस करोड़ से कम तो नहीं है। अत: इस जनता को अपना उपभोक्ता बनाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर काम करने वाली कंपनियों के प्रतिनिधियों एवं एजेंटों को हिन्दी सीखनी है। यदि भारत का इतना आर्थिक विकास न हुआ होता, तो हिन्दी का रुतबा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इतना न होता, जितना आज हमें

नोट

अनुभव होता है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ और इज्जतदार घरानों को अपने माल के प्रचार के लिए हिन्दी का सहारा लेना पड़ता है। उद्योग का एक बड़ा क्षेत्र है फिल्म और इलेक्ट्रोनिक जनसंचार माध्यम। हिन्दी फिल्म और इलेक्ट्रोनिक माध्यम में हिन्दी चैनल अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी का प्रसार करके हिन्दी के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय बाजार बनाने की भूमिका अदा करते हैं। यह है हिन्दी की अंतर्राष्ट्रीय भूमिका का ठोस आधार, जिस पर खड़ी होकर हिन्दी अंतर्राष्ट्रीय संपर्क की भाषा बन रही है। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रभाव के अवशेष और अमेरिकी साम्राज्य की वर्तमान दबंगई के कारण यह बात फैलाई जाती रही है कि अंग्रेजी विश्व भाषा है या विश्व बाजार की भाषा है। यह अर्द्धसत्य है। सच्चाई को यूँ कह सकते हैं कि अंग्रेजी एक महत्त्वपूर्ण विश्व भाषा है और विश्व बाजार की भी एक महत्त्वपूर्ण भाषा है। लेकिन विश्व बाजार में संपर्क तो चीनी, जापानी, फ्रांसीसी, जर्मन, स्पेनी के साथ ही हिन्दी के माध्यम से भी होता है। भारत के फैलते हुए बाजार और दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के संगठन की बढ़ती हुई भूमिका की पृष्ठभूमि में हिन्दी के महत्त्व और भूमिका में भी वृद्धि होती जा रही है।

वैज्ञानिक-तकनीकी क्रांति के इस दौर में यह उल्लेखनीय है कि वैज्ञानिक-तकनीकी कर्मियों की संख्या की दृष्टि से दुनिया में भारत का तीसरा स्थान है। ये तकनीकी कर्मी दुनिया के विभिन्न देशों में काम करते हैं और हिन्दी के प्रसार की भूमिका अदा करते हैं। लेकिन इस प्रसंग में एक बात और उल्लेखनीय है। इलेक्ट्रॉनिक संचार-माध्यम और कम्प्यूटर आदि के उपयोग में हिन्दी ने धीरे-धीरे अपनी जगह बना ली है। इससे एक तरफ इन माध्यमों से हिन्दी का प्रसार हो रहा है, तो दूसरी तरफ हिन्दी क्षेत्र में इलेक्ट्रोनिक यंत्रों का बाजार भी फैल रहा है। इससे हिन्दी की अंतर्राष्ट्रीय भूमिका मजबूत हो रही है। ये ही बातें हैं, जिनको ध्यान में रखकर अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज बुश ने कहा था कि भारत को समझना है, तो हिन्दी सीखो। यह हिन्दी के प्रति या भारत के प्रति बुश की उदारता नहीं है, बल्कि अपनी नव-उपनिवेशवादी योजना को कारगर बनाने के लिए हिन्दी का उनके द्वारा इस्तेमाल किया जाना है। लेकिन महत्त्वपूर्ण यह है कि हिन्दी हमारे चिंतन की, हमारे सपनों की, हमारे प्रतिरोध की भाषा बनकर हमारी सांस्कृतिक और राष्ट्रीय स्वायत्तता की रक्षा की भाषा बनकर हमें ताकत देती है।

अंतिम बात यह है कि आज भूमंडलीकरण यानी अमेरिकीकरण के इस दौर में एशिया, अफ्रीका और अमेरिका के राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता, संप्रभुता और विकास के साधनों की रक्षा के संघर्ष में भारत की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इस संघर्ष में भारत की भूमिका के साथ हिन्दी भी अपनी ऐतिहासिक भूमिका अदा करेगी, ऐसी संभावना है। भारत सरकार में हावी नौकरशाही यद्यपि भारत को और हिन्दी को भी अपनी वाजिब भूमिका अदा करने से रोकती है, उसकी भूमिका को कुंठित करती है। इसके बावजूद जनता का और राष्ट्रीय जरूरतों के आग्रहों का दबाव नौकरशाही को नियंत्रित करता है और हिन्दी की अंतर्राष्ट्रीय भूमिका को उजागर करता है।

मातृभाषा में जीवन जियें और सृजनशील बनें, आविष्कार करें।

सोचने की शक्ति तथा कल्पना शक्ति दोनों विषय के ज्ञान तथा भाषा अधिकार पर आधारित होती है। कल्पना शक्ति अनुभवों तथा मातृभाषा अर्थात् संवेदनशील भाषा के ज्ञान पर मुख्यत: आधारित होती है, जबकि सोचने की अधिकांश शक्ति विषय ज्ञान तथा शब्द ज्ञान, विशेषकर अवधारणात्मक शब्दों के ज्ञान पर।

विदेशी शब्दावली जो रोजी-रोटी के लिए सीखी जाती है, बहुत सीमित होती है, वह अतिरिक्त अध्ययन से ही बढ़ सकती है। रोजी-रोटी की भाषा का अतिरिक्त अध्ययन कम व्यक्ति करते हैं और आजकल टीवी ने लोगों की पढ़ने की रुचि को कम कर दिया है। अधिकांश अंग्रेजी जानने वालों की क्रियात्मक शब्द शक्ति लगभग 3000-4000 शब्दों की होती है। इसलिये उनके सोचने की शक्ति भी कम होती है। समाचार पत्रों या टीवी में अधिकांश विषय मनोरंजन या विज्ञापन से संबंधित रहते हैं जो विचार शक्ति को सीमित करते हैं। जिसकी मातृभाषा और रोजी-रोटी की भाषा अलग-अलग हो, साथ ही जो विदेशी भाषा के दबाव के कारण अपने समाज के जमीनी यथार्थ से लगभग कट गया हो, उन खंडित व्यक्तित्वों से मौलिक विचारों तथा आविष्कारों की आशा कम ही करनी चाहिये।

मौलिक सोच तथा आविष्करण के लिये विषय ज्ञान के साथ मुख्यतया मातृभाषा या जीवन की भाषा की संवेदनशील शब्दावली का उपयोग अपरिहार्य होता है। क्योंकि कविता के सृजन के समान आविष्कार और मौलिक विचारणा की कार्यप्रणाली तर्कणा शक्ति के परे होती है तथा वह व्यक्ति की संवेदनात्मक शब्दावली की समृद्धि पर भी निर्भर करती है। मनुष्य की संवेदनात्मक भाषा का अधिकांश निर्माण उसकी मातृभाषा में होता है तथा शैशव से लेकर युवावस्था तक अधिक होता है। ऐसा मैं अपने कविता रचने के अनुभव से अनेक वर्षों से कहता आ रहा हूँ।

किन्तु अब तो राष्ट्रीय मस्तिष्क अनुसंधान केन्द्र के वैज्ञानिकों ने 2009 में अनुसंधान करने के बाद इसे सिद्ध कर दिया है। उन्होंने छात्रों के समूहों पर यह प्रयोग किये। विद्यार्थियों से उन्होंने सस्वर पढ़ने के लिये कहा, एक बार हिन्दी में तथा दूसरी बार अंग्रेजी पढ़ते समय मस्तिष्क प्रोफेसर महावीर सरन जैन द्वारा भेजी गई विस्तृत रिपोर्ट के बाद अब विश्व स्तर पर यह स्वीकृत है कि मातृभाषियों की संख्या की दृष्टि से संसार की भाषाओं में चीनी भाषा के बाद हिन्दी का दूसरा स्थान है। चीनी भाषा के बोलने वालों की संख्या हिन्दी भाषा से अधिक है किन्तु चीनी भाषा का प्रयोग क्षेत्र हिन्दी की अपेक्षा सीमित है। अंग्रेजी भाषा का प्रयोग क्षेत्र हिन्दी की अपेक्षा अधिक है किन्तु मातृभाषियों की संख्या अंग्रेजी भाषियों से अधिक है।

विश्व के लगभग बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में हिन्दी का अंतर्राष्ट्रीय विकास बहुत तेजी से हुआ है। वेब, विज्ञापन, संगीत, सिनेमा और बाजार के क्षेत्र में हिन्दी की माँग जिस तेजी से बढ़ी है वैसी किसी और भाषा में नहीं। विश्व के लगभग 150 विश्वविद्यालयों तथा सैंकड़ों छोटे-बड़े केंद्रों में विश्वविद्यालय स्तर से लेकर शोध स्तर तक हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था हुई है। विदेशों से 25 से अधिक पत्र-पत्रिकाएँ लगभग नियमित रूप से हिन्दी में प्रकाशित हो रही हैं। यूएई के 'हम एफ-एम' सहित अनेक देश हिन्दी कार्यक्रम प्रसारित कर रहे हैं जिनमें बीबीसी, जर्मनी के डॉयचे वेले, जापान के एनएचके वर्ल्ड और चीन के चाइना रेडियो इंटरनेशनल की हिन्दी सेवा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आँकड़ों के लिहाज से हिन्दी दुनिया की तीसरी बड़ी भाषा है। चाइनीज बोलने वाले 1000 मिलियन, अंग्रेजी बोलने वाले 508 मिलियन और हिन्दी बोलने वाले लगभग 497 मिलियन लोग हैं।

2.15. हिन्दी और जनसंचार भाषा

भूमंडलीकरण के द्वारा यदि बाजारवाद का भला हुआ है तो हिन्दी को भी सर्वाधिक लाभ भूमंडलीकरण से ही हुआ है। दूरदर्शन, इंरटरनेट और आकाशवाणी हिन्दी के ऐसे सशक्त माध्यम बनकर उभरे कि हिन्दी आज देश में दृश्य और श्रव्य माध्यम की शक्ति बन गयी।

हिन्दी सिनेमा–हिन्दी सिनेमा का उल्लेख किये बिना हिन्दी का कोई भी लेख अधूरा होगा। मुम्बई में स्थित "बॉलीवुड" हिन्दी फ़िल्म उद्योग पर भारत के करोड़ों लोगों की धड़कने टिकी रहती हैं। हर चलचित्र में कई गाने होते हैं। हिन्दी और उर्दू (खड़ीबोली) के साथ-साथ अवधी, बम्बइया हिन्दी, भोजपुरी, राजस्थानी जैसी बोलियाँ भी संवाद और गानों में उपयुक्त होती हैं। प्यार, देशभक्ति, परिवार, अपराध, भय इत्यादि मुख्य विषय होते हैं। अधिकतर गाने उर्दू शायरी पर आधारित होते हैं। कुछ लोकप्रिय चलचित्र हैं: महल (1949), श्री 420 (1955), मदर इंडिया (1957), मुग़ल-ए-आज़म (1960), गाइड (1965), पाकीज़ा (1972), बॉबी (1973), ज़ंजीर (1973), यादों की बारात (1973), दीवार (1975), शोले (1975), मिस्टर इंडिया (1987), क़यामत से क़यामत तक (1988), मैंने प्यार किया (1989), जो जीता वही सिकन्दर (1991), हम आपके हैं कौन (1994), दिलवाले दुल्हनिया ले जायेंगे (1995), दिल तो पागल है (1997), कुछ कुछ होता है (1998), ताल (1999), कहो ना प्यार है (2000), लगान (2001), दिल चाहता है (2001), कभी खुशी कभी ग़म (2001), देवदास (2002), साथिया (2002), मुन्ना भाई एमबीबीएस (2003), कल हो ना हो (2003), धूम (2004), वीर-ज़ारा (2004), स्वदेश (2004), सलाम नमस्ते (2005), रंग दे बसंती (2006) इत्यादि।

हिन्दी का वैश्विक प्रसार–सन् 1998 के पूर्व, मातृभाषियों की संख्या की दृष्टि से विश्व में सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषाओं के जो आँकड़े मिलते थे, उनमें हिन्दी को तीसरा स्थान दिया जाता था।

नोट

सन् 1997 में सैन्सस ऑफ़ इंडिया का भारतीय भाषाओं के विश्लेषण का ग्रन्थ प्रकाशित होने तथा संसार की भाषाओं की रिपोर्ट तैयार करने के लिए यूनेस्को द्वारा सन् 1998 में भेजी गई यूनेस्को प्रश्नावली के आधार पर उन्हें भारत सरकार के केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के तत्कालीन निदेशक का केवल बायाँ गोलार्ध ही सक्रिय था, किन्तु हिन्दी पढ़ते समय दोनों, दाहिने तथा बाएँ, गोलार्धों में सक्रियता थी। अत: उनका निष्कर्ष है कि हिन्दी पढ़ने से मस्तिष्क अधिक चुस्त तथा दुरुस्त रहता है। इसका एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह भी निकलता है कि हिन्दी और मेरा मानना है कि मातृभाषा पढ़ते समय मस्तिष्क का बायाँ अर्थात् 'तर्कशील गोलार्ध' और दाहिना अर्थात् 'कल्पनाशील गोलार्ध' दोनों कार्य करते हैं। जब कि एक विदेशी भाषा के पढ़ने में अधिकांशतया केवल तार्किक कार्य करने वाला बायाँ गोलार्ध ही कार्य करता है। कविता तथा आविष्कार तर्क से परे मस्तिष्क के दाहिने गोलार्ध से होते हैं।

2.16. राजभाषा हिन्दी

अंग्रेजी शासन ने सन् 1947 में भारत को आजाद किया। देश को गणतंत्र बनाने के लिए जब संविधान की रचना की जा रही थी तब संविधान निर्माताओं ने हिन्दी को भी राजभाषा बनाने का प्रावधान रखा। 26 जनवरी, 1950 को जब भारतीय संविधान लागू हुआ तो हिन्दी, जिसने आजादी की लड़ाई का लंबा सफ़र तय किया था, को राजभाषा के पद पर बैठाया गया। **राजभाषा का अर्थ है राजकाज की भाषा।** भारत को संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न, लोकतंत्रात्मक गणराज्य या संघ घोषित किया गया। संघ की राजभाषा होने के कारण हिन्दी संसद, न्यायालय और प्रशासन की भाषा बनी। देश का दुर्भाग्य यह है कि देश संविधान ही अंग्रेजी में लिखा गया। संविधान का हिन्दी अनुवाद उपलब्ध है किन्तु न्यायिक ढाँचा अंग्रेजी का ही मान्य है। आज देश में राजभाषा हिन्दी मात्र अनुवाद की भाषा बनकर रह गयी है।

2.17. राष्ट्रभाषा

संविधान के अनुच्छेद 343 से 350 और 120 तथा 210 अनुच्छेदों में राजभाषा का उल्लेख किया गया है। राष्ट्रभाषा के विषय में धारा 351 निर्धारित की गयी है किन्तु इस धारा में कहीं भी राष्ट्रभाषा हिन्दी नाम नहीं दिया गया क्योंकि इस धारा में एक ऐसी भाषा की संकल्पना है जिसे संपूर्ण देश आत्मसात कर सके। यही भाषा देश की राष्ट्रभाषा और संपर्क भाषा है। देश की भावना, संप्रेषण सभी कुछ इसी भाषा में होता है। इस भाषा का बोलित रूप इतना प्रभावशाली है कि संपूर्ण देश यह भाषा समझता है और बोलता है। यह राष्ट्रभाषा की ऐसी संकल्पना है जिसे संविधान ने परिभाषित तो किया किन्तु उसे नियम या कायदे में बाँधना मुमकिन नहीं, क्योंकि राष्ट्रभाषा किसी भी देश की भावनात्मक उपज होती है। यही देश की राष्ट्रभाषा है, संपर्क भाषा है क्योंकि इस भाषा के माध्यम से हम संपूर्ण देश की संस्कृति को देखने का प्रयास करते हैं।

यह कहना कि प्रयोजनमूलक हिन्दी आधुनिक युग की देन है तर्कसंगत नहीं है। आधुनिक युग ने हिन्दी को केवल प्रयोजनमूलक नाम दिया है, कोई प्रयोजन नहीं। अगर यह कहें कि हिन्दी आज प्रयोजनमूलक है तो यह भी मालूम होना चाहिए कि हिन्दी निस्प्रयोजन कब थी? अगर हिन्दी निस्प्रयोजन होती तो लगभग चार सौ साल पूर्व रचित तुलसीदास के रामचरितमानस की एक-एक चौपाई आज चरितार्थ नहीं होती। अगर व्यावसायिकता की बात करें तो भारत के साथ-साथ मलेशिया, फिजी, मॉरीशस, कैरेबिआई द्वीप समूह के अतिरिक्त दुनिया भर में पढ़ा जाने वाला रामचरितमानस भारत के प्रतिष्ठित गीता प्रेस, गोरखपुर से सर्वाधिक छपने वाली किताब का खिताब पा चुका है। तो जिस भाषा में ऐसे एक-दो नहीं बल्कि अनंत कालजयी साहित्य के सृजन की क्षमता हो वह निस्प्रयोजन कैसे हो सकती है? आखिर किसी भाषा का प्रयोजन क्या है? अभिव्यक्ति और यही अभिव्यक्ति लोकहित का उद्देश्य धारण कर देश और काल की सीमा से परे चिरंजीवी हो साहित्य कहलाने लगता है। इस प्रकार इस बात में कोई दो राय नहीं कि हिन्दी में अभिव्यक्ति और साहित्य-सृजन दोनों की अपार क्षमता है। अत: यह संस्कृत तनया अपने जन्मकाल से ही प्रयोजनवती रही है। सो हमारा उद्देश्य हिन्दी का प्रयोजन अथवा इसकी प्रयोजनमूलकता सिद्ध करना कतई नहीं है। किन्तु आज जिस प्रयोजनमूलक हिन्दी की चर्चा जोर-शोर से की जा रही है उससे मुँह चुराना भी उपयुक्त नहीं है।

2.18. सारांश (Summary)

- प्रोफ़ेसर महावीर सरन जैन ने अपने "हिन्दी एवं उर्दू का अद्वैत" शीर्षक आलेख में हिन्दी की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए कहा है कि ईरान की प्राचीन भाषा अवेस्ता में 'स्' ध्वनि नहीं बोली जाती थी। 'स्' को 'ह्' रूप में बोला जाता था। जैसे संस्कृत के 'असुर' शब्द को वहाँ 'अहुर' कहा जाता था। अफ़गानिस्तान के बाद सिन्धु नदी के इस पार हिन्दुस्तान के पूरे इलाके को प्राचीन फ़ारसी साहित्य में भी 'हिन्द', 'हिन्दुश' के नामों से पुकारा गया है तथा यहाँ की किसी भी वस्तु, भाषा, विचार को 'एडजेक्टिव' के रूप में 'हिन्दीक' कहा गया है जिसका मतलब है 'हिन्द का'। यही 'हिन्दीक' शब्द अरबी से होता हुआ ग्रीक में 'इन्दिके' 'इन्दिका' लैटिन में 'इन्दिया' तथा अंग्रेज़ी में 'इण्डिया' बन गया।
- हिन्दी हिन्द-यूरोपीय भाषा परिवार के अन्दर आती है। ये हिन्द-ईरानी शाखा की हिन्द-आर्य उपशाखा के अन्तर्गत वर्गीकृत है। हिन्द-आर्य भाषाएँ वे भाषाएँ हैं जो संस्कृत से उत्पन्न हुई हैं। उर्दू, कश्मीरी, बंगाली, उड़िया, पंजाबी, रोमानी, मराठी, नेपाली जैसी भाषाएँ भी हिन्द-आर्य भाषाएँ हैं।
- उच्च हिन्दी भारतीय संघ की राजभाषा है (अनुच्छेद-343, भारतीय संविधान)। यह इन भारतीय राज्यों की भी राजभाषा है: उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, मध्य प्रदेश, उत्तरांचल, हिमाचल प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, हरियाणा और दिल्ली।
- विकास की प्रक्रिया में भाषा का दायरा भी बढ़ता जाता है। यही नहीं एक समाज में एक जैसी भाषा बोलने वाले व्यक्तियों का बोलने का ढंग शब्द-भंडार, वाक्य-विन्यास आदि अलग-अलग हो जाने से उनकी भाषा में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। इसी को शैली कह सकते हैं।
- यदि हम विश्व के अन्य देशों का अभ्यास करें तो यह प्रतीत होता है कि वे क्षेत्रीय भाषा को कितना महत्त्व देते हैं। स्वीडन में स्वीडिश, फिनलैंड में फिनीश, फ्रान्स में फेन्च, इटली में रोमन, ग्रीस में ग्रीक, जर्मनी में जर्मन, ब्रिटेन में अंग्रेजी, चाईना में चाईनीज और जापान में जापानीज भाषाएँ शिक्षा का माध्यम हैं। यदि हम यह सोचते हैं कि विकास को बढ़ावा देने के लिये शिक्षा के माध्यम के रूप में कोई अंतर्राष्ट्रीय भाषा ही मददगार साबित होगी तो यह हमारा भ्रम है। जापान में जापानीज का इस्तेमाल होता है फिर भी वह देश तकनीकी दृष्टि से विश्व में आगे है। चाईनीज बोलने वाली प्रजाति विश्व की सर्वोपरि महासत्ताओं में से एक कही जाती है।
- हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है। इसके बोलने व समझने वालों की संख्या के अनुसार विश्व में यह तीसरे क्रम की भाषा है। यानी कि हिन्दी अंतर्राष्ट्रीय भाषा है।

2.19. शब्दकोश (Keywords)

कालिक	–	समय संबंधी, सामयिक
संकेतित	–	इशारा किया हुआ
अरण्य	–	जंगल, वन
सिन्दूरी	–	सिंदूर जैसा पीला मिश्रित लाल

2.20. अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. हिन्दी भाषा के विविध रूपों की विवेचना कीजिए।
2. हिन्दी नवगीतों में विचलन का प्रयोग संयम और कौशल से किया जाना चाहिए। उदाहरण सहित व्याख्या करें।

नोट

3. मातृभाषा विकास परिषद के गठन का उद्देश्य क्या है? मातृभाषा में शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डालिए
4. प्रयोजनमूलक हिन्दी की विभिन्न प्रयुक्तियों को समझाइए।
5. सम्पर्क भाषा को परिभाषित करें।
6. राष्ट्र भाषा क्या है?
7. हिंदी के वैश्विक प्रसार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

2.21. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें
1. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – राजकुमार वर्मा
2. हिंदी भाषा का उदभव और विकास – गुणानंद जुयाल
3. हिंदी भाषा – कैलास चंद्र भाटिया
4. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य – बेचन

इकाई-2
(Unit–2)

नोट

3. हिंदी का शब्द भंडार

रूपरेखा

3.1 उद्देश्य (Objectives)
3.2 प्रस्तावना (Introduction)
3.3 शब्द भंडार
3.4 स्रोत के आधार पर शब्द-भेद
3.4 सारांश (Summary)
3.5 शब्दकोश (Keywords)
3.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
3.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

3.1. उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- शब्द भंडार जानने में।
- स्रोत के आधार पर शब्द-भेद समझने में।

3.2. प्रस्तावना (Introduction)

शब्द का स्वरूप

शब्द क्रमबद्ध ध्वनियों का ऐसा समूह है जिसका एक निश्चित अर्थ होता है और जिसकी स्वतंत्र सत्ता होती है। प्रत्येक भाषा में ध्वनियाँ एक निश्चित क्रम में आकर शब्द को एक निश्चित अर्थ प्रदान करती हैं। इन शब्दों का प्रयोग हम भाषा में अलग से स्वतंत्र रूप से कर सकते हैं। शब्दों की सहायता से वाक्य बनाये जाते हैं। शब्दों के अर्थों का ज्ञान हमें शब्दकोशों से प्राप्त होता है।

इस प्रकार शब्द की निम्नलिखित विशेषताएँ महत्त्वपूर्ण हैं:

(क) निश्चित क्रमबद्धता: शब्दों की रचना ध्वनियों के निश्चित क्रम से आने से होती है। क्रम परिवर्तन करने से शब्द का अर्थ ही बदल जाता है, जैसे कलम तथा कमल। इन दोनों शब्दों में ध्वनियाँ समान हैं। लेकिन ध्वनियों का क्रम बदलने से शब्दों का अर्थ बदल गया है।

(ख) स्वतंत्र प्रयोग: भाषा में शब्दों का प्रयोग स्वतंत्र रूप से होता है, जैसे-हिन्दी के शब्द लड़का, घोड़ा, किताब, ईमानदार, मिठाईवाला आदि। इसके विपरीत कुछ इकाइयाँ अर्थवान तो होती हैं लेकिन वे हमेशा किसी शब्द के साथ ही जुड़कर आती हैं। उनका भाषा में स्वतंत्र रूप में प्रयोग नहीं होता जैसे "वाला" (मिठाईवाला), "दार" (ईमानदार) "अ" (अज्ञान) आदि।

(ग) अर्थवान इकाई: हर भाषा में शब्द का एक निश्चित अर्थ होता है। ये अर्थवान शब्द ध्वनियों के निश्चित क्रम में आने से ही बनते हैं। कभी-कभी ध्वनियों का क्रम परिवर्तन करने पर शब्द का अर्थ ही नहीं बदलता बल्कि शब्द निरर्थक भी हो जाते हैं, जैसे–कलम की जगह मकल, लकम।

नोट

शब्दों के अर्थ तथा उनकी ध्वनियों में परस्पर कोई संबंध नहीं होता इसलिए संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं में हमें एक वस्तु तथा उसके अर्थ के लिए अलग-अलग शब्द मिलते हैं जैसे-हिन्दी में पेड़, किताब, मेज़ तो अंग्रेजी में "ट्री, बुक, टेबल" आदि।

शब्द और पद

जब शब्द का प्रयोग वाक्य में किया जाता है तब वह "पद" कहलाता है। "पद" के रूप में प्रयुक्त शब्द कोई-न-कोई व्याकरणिक प्रकार्य करता है तथा वाक्य के अन्य पदों के साथ संबंध स्थापित करता है।

उदाहरण के लिए "लड़के ने घोड़े को मारा" वाक्य में "लड़के" "घोड़े" और "मारा" पद क्रमशः कर्त्ता, कर्म और क्रिया का प्रकार्य कर रहे हैं तथा "ने" और "को" के सहयोग से परस्पर एक दूसरे के साथ संबद्ध भी हैं। वाक्य में पदों के इस प्रकार्य से कर्त्ता-कर्म-क्रिया के लिंग, वचन आदि का भी बोध होता है।

3.3. शब्द भंडार

हर भाषा का अपना शब्द भंडार होता है। किसी भी भाषा का शब्द भंडार समय के साथ-साथ बढ़ता जाता है। जब उस भाषा से नए ज्ञान का विकास होता है या वह भाषा किसी दूसरी भाषा के संम्पर्क में आती है तो नए शब्दों का सृजन होता है या दूसरी भाषाओं के कुछ शब्दों को ग्रहण कर लिया जाता है। जो भाषा समाज में जितने अधिक प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होगी उसका शब्द भंडार उतना ही अधिक विकसित और विस्तृत होता जाएगा। किसी कारण प्रयोग से हट जाने के कारण कुछ शब्द लुप्त भी होते हैं, जैसे–सेर, छटाँक, रत्ती, तोला, गज़ आदि शब्द धीरे-धीरे हिन्दी की सक्रिय शब्दावली से लुप्त होते जा रहे हैं। उनकी जगह अब किलो, ग्राम, लीटर, मीटर आदि प्रयुक्त होने लगे हैं।

(क) परंपरा से प्राप्त शब्द

परंपरा से प्राप्त शब्दों में दो प्रकार के शब्द हिन्दी में बड़ी संख्या में मिलते हैं। एक तो संस्कृत के तत्सम शब्द हैं तथा दूसरे अरबी-फ़ारसी के। दोनों ही स्रोतों से आए इन शब्दों की यद्यपि अपनी परंपरा रही है किन्तु हिन्दी में आकर ये हिन्दी की अपनी प्रकृति के अनुरूप ढल गए हैं। ये हिन्दी के अपने व्याकरण के भी अंग बन गए हैं। इन शब्दों को देखकर अब हिन्दी भाषा-भाषी का ध्यान इस ओर नहीं जाता कि वे किसी अन्य भाषा स्रोत से हिन्दी में आए हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत से आए शब्द, जैसे–सुंदर, मान, सम्मान, पुत्र, आदर, उपवन, मंत्री, प्रगति, निबंध, प्राचीन, नवीन, गुण, सुमन, पूर्ण, पुष्प, आदि। अरबी-फारसी से आए शब्द जैसे–क़ानून किताब, कलम, ईमान, शकल, रोज़, साल कमज़ोर, दर्द, खुश्बू, इन्सान, ज़मीन, सफ़र आदि।

इस प्रकार के सैकड़ों शब्द आज हिन्दी में आत्मसात हो गए हैं और हिन्दी शब्द भंडार के अंग बन गए हैं।

(ख) आगत/गृहीत शब्द

इस कोटि में प्रमुखतः अंग्रेजी से आए हुए शब्दों को रखा जा सकता है। यद्यपि ये शब्द भी अरबी-फारसी की ही भाँति विदेशी शब्द हैं लेकिन हमारे यहाँ इनके विकास की कोई परंपरा नहीं रही है। वैसे तो ये शब्द हिन्दी में पर्याप्त संख्या में प्रचलित हैं, लेकिन हिन्दी भाषी इन्हें विदेशी शब्दों के रूप में ही ग्रहण करता है। अंग्रेजी के इन आगत शब्दों को दो प्रकार से ग्रहण किया गया है–मूल रूप में तथा अनुकूलित रूप में।

मूल रूप से गृहीत शब्दः ऐंजट, राशन, कॉलेज, अपील, रेल, ड्राइवर, टिकट, बैंक, मशीन, फोटो, कॉफी, बस, इंजीनियर, डॉक्टर, मास्टर, नर्स आदि।

अनुकूलित रूप में गृहीत शब्द: अंग्रेजी के वे आगत शब्द जो हिन्दी की अपनी प्रकृति के अनुरूप ढल गए हैं वे इस वर्ग के अंतर्गत आते हैं जैसे–

मूल अंग्रेजी शब्द	**अनुकूलित शब्द**
टेकनीक	तकनीकी
एकेडमी	अकादमी
ट्रेजेडी	त्रासदी
कॉमेडी	कामदी
ट्रेज़री	तिजोरी
लेंटर्न	लालटेन
गोडाउन	गोदाम
एल्मीरा	अलमारी
कैप्टेन	कप्तान
ग्लास	गिलास
ब्रिटेन	बरतानिया
चाइना	चीन
अमेरिका	अमरीका
रसिया	रूस आदि।

नोट

(ग) संकर शब्द

आवश्यकता के अनुसार जब दो भिन्न भाषाओं के शब्दों को मिलाकर कोई नया शब्द बनाया जाता है तब उसे संकर शब्द कहते हैं। हिन्दी में कई प्रकार के शब्द बनाए गए हैं:

(*i*) एक भाषा के उपसर्ग/ प्रत्यय तथा दूसरी भाषा के शब्द को मिलाकर जैसे फ़ारसी के 'बे' उपसर्ग जिसका अर्थ है बिना/बगैर तथा अरबी, फारसी, तुर्की, हिन्दी के शब्दों को मिला कर–

बे + अदब (अरबी) – बेअदब

बे + काबू (तुर्की) – बेकाबू

बे + घर (हिन्दी) – बेघर

इसी प्रकार फ़ारसी के "दार" प्रत्यय, जिसका अर्थ है–

"रखने वाला/ युक्त" को मिलाकर–

(हिन्दी) काँटे + दार – काँटेदार

(अरबी) तहसील + दार – तहसीलदार

(हिन्दी) फल + दार – फलदार

(*ii*) समास पद्धति के आधार पर भिन्न-भिन्न भाषाओं के दो शब्दों को समास द्वारा जोड़कर भी हिन्दी में इस प्रकार के संकर शब्द बनाए गए हैं जैसे–

खेल-तमाशा	(हिन्दी . अरबी)
माल-गाड़ी	(अरबी . हिन्दी)
रेल-गाड़ी	(अंग्रेजी . हिन्दी)
टिकट-घर	(अंग्रेजी . हिन्दी)
कपड़ा-मिल	(हिन्दी . अंग्रेजी)

नोट

लाठी-चार्ज	(हिन्दी . अंग्रेजी)
पार्टी-कार्यालय	(अंग्रेजी . हिन्दी)
बजट-सत्र	(अंग्रेजी . हिन्दी)
बीमा-पॉलिसी	(अरबी . अंग्रेजी)
रेडियो-तरंग	(अंग्रेजी . संस्कृत)
रोज़गार-समाचार	(फ़ारसी . संस्कृत)

3.4. स्रोत (उत्पत्ति) के अनुसार शब्द-भेद

स्रोत अथवा उत्पत्ति के आधार पर शब्द निम्नलिखित पाँच प्रकार के हैं–

1. तत्सम 2. तद्भव 3. देशज
4. आगत (विदेशज) 5. संकर

1. **तत्सम शब्द–**'तत्सम' शब्द 'तत् + सम'–से बना है, जिसका अर्थ है–'उसके समान'–अर्थात 'संस्कृत के समान'। संस्कृत के वे शब्द, जिनका प्रयोग हिंदी में ज्यों-का-त्यों होता है **तत्सम** कहलाते हैं; जैसे–

   दुग्ध, घृत, नयन, केश, वसुंधरा, गगन, भ्रमर आदि।

2. **तद्भव शब्द–**'तद्भव' शब्द का अर्थ है–'उससे उत्पन्न'; अर्थात् संस्कृत से उत्पन्न। अर्थात् वे शब्द जो संस्कृत के तत्सम शब्दों से परिवर्तित होकर हिंदी में प्रयुक्त होते हैं **तद्भव** कहलाते हैं; जैसे–

   दूध, घी, नैन, केस, भौंरा, खेत, सूरज, चाँद आदि।

तत्सम-तद्भव शब्दों की एक संक्षिप्त तालिका

तत्सम	तद्भव	तत्सम	तद्भव	तत्सम	तद्भव
अंगुली	उँगली	अंध	अंधा	अंधकार	अँधेरा
अंबा	अम्मा	अकथ्य	अकथ	अग्नि	आग
अग्र	आगे	अट्टालिका	अटारी	अर्ध	आधा
अश्रु	आँसू	अस्थि	हड्डी	आम्र	आम
आश्चर्य	अचरज	आश्रय	आसरा	उच्च	ऊँचा
उज्ज्वल	उजला	उलूक	उल्लू	उष्ट्र	ऊँट
एकत्र	इकट्ठा	ओष्ठ	होंठ	कंकण	कंगन
कज्जल	काजल	कपाट	किवाड़	कपोत	कबूतर
कर्ण	कान	कर्म	काम	काक	कौआ
काष्ठ	काठ	कार्य	काज	कुंभकार	कुम्हार
कुठार	कुल्हाड़ा	कुपुत्र	कपूत	कुमार	कुँआरा
कुष्ठ	कोढ़	कूप	कुआँ	कोकिल	कोयल
क्षीर	खीर	क्षेत्र	खेत	गर्दभ	गधा

नोट

गृह	घर	ग्रंथि	गाँठ	ग्राम	गाँव
ग्राहक	गाहक	घट	घड़ा	घृत	घी
घोटक	घोड़ा	चंचु	चोंज	चंद्रिका	चाँदनी
चक्र	चाक	चर्म	चाम	चर्मकार	चमार
चूर्ण	चून	चैत्र	चैत	छिद्र	छेद
ज्येष्ठ	जेठ	दंड	डंडा	दंत	दाँत
दधि	दही	दुग्ध	दूध	दुर्बल	दुबला
धूम्र	धुआँ	धैर्य	धीरज	नासिका	नाक
निद्रा	नींद	निष्ठुर	निठुर	नृत्य	नाच
पंच	पाँच	पक्व	पक्का	पक्षी	पंछी
पत्र	पत्ता	पर्यंक	पलंग	पिपासा	प्यास
पुत्र	पूत	पुष्कर	पोखर	प्रस्तर	पत्थर
प्रहर	पहर	बाहु	बाँह	बिंदु	बूँद
बिड़ाल	बिलाव	भ्रमर	भौंरा	भ्रातृ	भाई
वर्षा	बरखा	वार्ता	बात	शाक	साग
श्वास	साँस	सप्त	सात	सूर्य	सूरज
स्तन	थन	स्वप्न	सपना	हस्ती	हाथी
हस्त	हाथ				

3. **देशी अथवा देशज शब्द**–वे शब्द देशी अथवा देशज कहलाते हैं जिनका स्रोत संस्कृत न होकर ग्रामीण क्षेत्रों और अंचलों की बोलियाँ हैं। झाड़ू, झंझट, लोटा, पगड़ी, झोला, टाँग, खिड़की, थप्पड़ और भोंपू जैसे अनेक शब्द इस वर्ग में आते हैं।
4. **आगत (विदेशज)**–जो शब्द किसी दूसरी भाषा से आए हैं अथवा किसी विदेशी भाषा से हिंदी में ग्रहण कर लिए गए हैं आगत (विदेशज) कहे जाते हैं। हिंदी में अंग्रेजी, अरबी-फारसी, तुर्की और पुर्तगाली से अनेक ऐसे शब्द आ गए हैं।

(क) अरबी-फ़ारसी और तुर्की से आए शब्द–

अल्लाह	अखबार	आईना	आसमान	आक़ा	आफ़त
आदमी	इंसाफ	इम्तहान	किताब	कत्ल	कागज़
कानून	कैदी	कैंची	कुर्ता	किशमिश	कुरसी
कमरा	खून	चाकू	खुफिया	खराब	खत
ग़रीब	गुलाब	गुब्बारा	चेचक	चम्मच	जानवर
ज़मीन	ज़मींदार	ज़िला	जागीर	जुर्म	जुर्माना
जुलूस	तरीका	ताकत	तूफान	तोप	तख्ता
दारोगा	दिमाग	नमक	पिस्ता	फौज़	बेगम
बाज़ार	बर्फ	बगीचा	बादाम	मज़दूर	मसाला
रिश्वत	वकील	शतरंज	शैतान	सब्ज़ी आदि।	

नोट

(ख) अंग्रेज़ी तथा अन्य भाषाओं से आए शब्द–

अंग्रेज़ी	अपील	अफसर	कॉलेज	कोर्ट	कर्फ्यू
कमीशन	कॉपी	कॉलोनी	क्रीम	कूपन	टाई
टोस्ट	डॉक्टर	पुलिस	पॉलिसी	फीस	राशन
बैंच	बजट	स्वेटर	सिनेमा आदि।		

(ग) पुर्तगाली शब्द–

ऑलपिन	अल्मारी	इस्त्री	कनस्तर	कप्तान	पादरी
संतरा	बाल्टी	साबुन	गमला	तौलिया	काजू
पिस्तैला आदि।					

(घ) जापानी–रिक्शा।

(ङ) चीनी–चाय, लीची।

5. **संकर शब्द–**दो भिन्न भाषाओं के शब्दों के मेल से बने शब्द संकर कहलाते हैं। हिंदी में इस प्रकार से अनेक शब्द बने हैं। इन शब्दों में संस्कृत-हिंदी-अंग्रेज़ी, अरबी-फ़ारसी, हिंदी-फ़ारसी आदि के मेल से बने संकर शब्द आते हैं।

उदाहरण के लिए देखिए–

(क) अंग्रेज़ी-हिंदी–टिकटघर, रेलगाड़ी, सिनेमाघर, मालगोदाम, कपड़ा-मिल

(ख) अरबी-फ़ारसी–फिज़ूलखर्च

(ग) फारसी-अंग्रेज़ी–बीमा-पॉलिसी, पार्टीबाज़ी, जेलखाना

(घ) हिंदी-फ़ारसी–खून-पसीना, पानदान, किताबघर, थानेदार, घड़ीसाज़

(ङ) अंग्रेज़ी-संस्कृत–रेल-यात्री, रेडियोतरंग

(च) हिंदी-संस्कृत–माँगपत्र, पूँजीपति

3.5. सारांश (Summary)

- शब्दों के अर्थ तथा उनकी ध्वनियों में परस्पर कोई संबंध नहीं होता इसलिए संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं में हमें एक वस्तु तथा उसके अर्थ के लिए अलग-अलग शब्द मिलते हैं जैसे-हिन्दी में पेड़, किताब, मेज़ तो अंग्रेजी में "ट्री, बुक, टेबल" आदि।
- स्रोत के आधार पर शब्द पाँच प्रकार के होते हैं–तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशी (आगत), संकर।

3.6. शब्दकोश (Keywords)

वायु-प्रदूषण : हवा का दूषित हो जाना

उपभोक्ता : ग्राहक, उपभोग करने वाला

ट्री : वृक्ष

बुक : किताब

टेबल : मेज़

घृत : घी

3.7. अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

नोट

1. शब्द से क्या तात्पर्य है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
2. 'तत्सम' शब्द किन दो शब्दों से मिलकर बना है? हिंदी में प्रयुक्त 'तत्सम शब्दों' से क्या आशय है?
3. 'तद्भव' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके चार उदाहरण दीजिए। उन शब्दों के सामने उनके तत्सम रूप भी लिखिए।
4. 'देशज' अथवा 'देशी' शब्दों से क्या आशय है? इन शब्दों की क्या विशेषता होती है?
5. निम्नलिखित शब्दों के सामने 'तत्सम', 'तद्भव', 'देशज' या 'विदेशी' लिखिए–

क्रमांक	शब्द	तत्सम	तद्भव	देशज	विदेशी
1.	चॉकलेट	.....	.....	.....	.....
2.	घर	.....	.....	.....	.....
3.	स्टेशन	.....	.....	.....	.....
4.	कोर्ट	.....	.....	.....	.....
5.	प्लेटफार्म	.....	.....	.....	.....
6.	अतिथि	.....	.....	.....	.....
7.	मेहमान	.....	.....	.....	.....
8.	घोड़ा	.....	.....	.....	.....
9.	मसाला	.....	.....	.....	.....
10.	पनीर	.....	.....	.....	.....
11.	अदालत	.....	.....	.....	.....
12.	पिस्ता	.....	.....	.....	.....
13.	किताब	.....	.....	.....	.....
14.	लीची	.....	.....	.....	.....
15.	काजू	.....	.....	.....	.....

6. **तत्सम और तद्भव शब्दों को अलग-अलग कीजिए–**

कर्म	.....	साग	.....
शाम	.....	क्षीर	.....
दीपक	.....	नंगा	.....
जेठ	.....	मक्षिका	.....
चर्म	.....		

7. **निम्नलिखित शब्दों के तत्सम रूप लिखिए–**

घी	.....	सूरज	.....
सात	.....	माह	.....
बरस	.....	उजला	.....

नोट

भौंरा	.....	नाच	.....
सपना	.....	दुबला	.....
कुम्हार	.....	दाँत	.....
घर	.....	भीख	.....
मानुष	.....		

8. निम्नलिखित शब्दों के तद्भव रूप लिखिए–

मस्तक	.....	हस्त	.....
अस्थि	.....	कूप	.....
उच्च	.....	भ्रमर	.....
काष्ठ	.....	लज्जा	.....
सत्य	.....	स्वप्न	.....
उज्ज्वल	.....	मित्र	.....
दुग्ध	.....	ग्राम	.....

9. निम्नलिखित के उपयुक्त तद्भव शब्द पर 3 लगाइए–

(*i*)	शिक्षा	सीख	सिक्ख	शिखा	सींक
(*ii*)	कर्म	कम	क्रम	काम	कमी
(*iii*)	कोकिल	कोकाकोला	कपिल	कोयला	कोयल
(*iv*)	पक्षी	पंख	पंखी	पंछी	पकी
(*v*)	सूत्र	सुत	सूत	सत्य	सुत्त
(*vi*)	दधि	दही	दग्ध	दीद	दीप
(*vii*)	कर्ण	कार्य	कान	कान्हा	कारण
(*viii*)	अस्थि	अस्त	हस्ती	हाथी	हड्डी

10. बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

1. किसी भी भाषा का शब्द भंडार किसके साथ-साथ बढ़ता जाता है?

   (क) ज्ञान (ख) विज्ञान

   (ग) समय (घ) समाज

2. अंग्रेजी के वे आगत शब्द जो हिन्दी की अपनी प्रकृति के अनुरूप ढल गए हैं वह किस वर्ग के अंतर्गत आते हैं?

   (क) गृहीत शब्द (ख) संकट शब्द

   (ग) परंपरा से प्राप्त शब्द (घ) या उपरोक्त में से कोई नहीं

3. अपनी आवश्यकता के अनुसार जब दो भिन्न भाषाओं के शब्दों को मिलाकर कोई नया शब्द बनाया जाता है उसे ..... कहते हैं।

   (क) सार्थक शब्द (ख) संकट शब्द

   (ग) संस्कृत (घ) आगत शब्द।

3.8. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

नोट

पुस्तकें

1. हिंदी भाषा का उदभव और विकास – गुणानंद जुयाल
2. हिंदी भाषा – कैलास चंद्र भाटिया
3. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य – बेचन
4. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – राजकुमार वर्मा

4. हिंदी साहित्य का इतिहास

नोट

रूपरेखा

4.1 उद्देश्य (Objectives)
4.2 प्रस्तावना (Introduction)
4.3 इतिहास : अर्थ एवं स्वरूप
4.4 'इतिहास-दर्शन' की रूपरेखा
4.5 साहित्य का इतिहास-दर्शन
4.6 साहित्येतिहास और साहित्यालोचन
4.7 हिंदी-साहित्येतिहास की परंपरा
4.8 हिंदी-साहित्येतिहास के आधार
4.9 सारांश (Summary)
4.10 शब्दकोश (Keywords)
4.11 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
4.12 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

4.1. उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- 'इतिहास' का अर्थ एवं स्वरूप जानने में।
- साहित्य का इतिहास-दर्शन जानने में।

4.2. प्रस्तावना (Introduction)

आधुनिक युग में इतिहास को कला की अपेक्षा विज्ञान के ही अधिक निकट माना जाता है। अत: प्रत्येक इतिहासकार से दृष्टिकोण की तटस्थता या वस्तुपरकता, तथ्यों की यथार्थता और निष्कर्षों की प्रामाणिकता की अपेक्षा की जाती है; यह दूसरी बात है कि विषयवस्तु की अविद्यमानता व अप्रत्यक्षता के कारण 'भौतिक विज्ञान' की-सी वैज्ञानिकता का आविर्भाव उसमें शायद ही संभव हो। वास्तव में विषय-भेद से स्वयं विज्ञान भी अनेक श्रेणियों एवं कोटियों में विभक्त हो जाता है; उदाहरण के लिए मनोविज्ञान, समाजविज्ञान व भाषाविज्ञान को हम विज्ञान की उसी श्रेणी में स्थान नहीं दे सकते जिस श्रेणी में भौतिकविज्ञान, रसायनशास्त्र और जीवविज्ञान को देते हैं। अत: इतिहास को भी हम उसी श्रेणी के विज्ञान में स्थान दे सकते हैं, जिस श्रेणी में भाषाविज्ञान व समाजविज्ञान (Sociology) को देते हैं।

आज पाश्चात्य इतिहास-दर्शन के सर्वप्रमुख एवं सर्वाधिक विकसित दृष्टिकोण के रूप में विकासवादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया जा सकता है, किंतु अनेक दृष्टियों से यह दृष्टिकोण भी अभी तक पूर्ण विकसित नहीं कहा जा सकता। एक तो अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, संस्कृति आदि विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करनेवाले विकासवादी चिन्तकों के सिद्धांतों में भी परस्पर अन्विति एवं एकरूपता का अभाव है, जहाँ डारविन का विकासवाद प्राणिशास्त्र में लागू होता है, वहाँ मार्क्स का अर्थशास्त्र में, स्पेन्सर का भौतिकविज्ञान में या बर्गसॉ का मनोविज्ञान में लागू होता है।

4.3. इतिहास : अर्थ एवं स्वरूप

नोट

शाब्दिक दृष्टि से 'इतिहास' का अर्थ है–'ऐसा ही था' या 'ऐसा ही हुआ'। इससे दो बातें स्पष्ट हैं–एक तो यह कि इतिहास का संबंध अतीत से है; दूसरे यह कि उसके अंतर्गत केवल वास्तविक या यथार्थ घटनाओं का समावेश किया जाता है। उसमें उन सभी लिखित या मौखिक वृत्तों को सम्मिलित किया जाता है जिनका संबंध अतीत की यथार्थ परिस्थितियों व घटनाओं से है और साथ ही उसका संबंध केवल 'प्रसिद्ध घटनाओं' से ही नहीं, अपितु उन घटनाओं से भी है जो प्रसिद्ध न होते हुए भी यथार्थ में घटित हुई हों। वस्तुत: आज 'इतिहास' शब्द को इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है कि उसके अंतर्गत, अतीत की प्रत्येक स्थिति, परिस्थिति, घटना, प्रक्रिया एवं प्रवृत्ति की व्याख्या का समावेश हो जाता है। अत: संक्षेप में अतीत के किसी भी तथ्य, तत्व एवं प्रवृत्ति के वर्णन, विवरण, विवेचन, व विश्लेषण को–जो कि कालविशेष या कालक्रम की दृष्टि से किया गया हो–इतिहास कहा जा सकता है। लाक्षणिक अर्थ में 'इतिहास' का प्रयोग अतीत की घटनाओं के विवरण के स्थान पर स्वयं अतीतकालीन घटनाओं और व्यक्तियों के लिए भी होता है, जैसे–'महात्मा गांधी ने भारत के नये इतिहास का निर्माण किया' या 'सम्राट अशोक भारत के इतिहास-निर्माता थे' आदि वाक्यों में। किंतु शास्त्रीय या वैज्ञानिक विवेचन में लाक्षणिक प्रयोग अग्राह्य या त्याज्य ही समझे जाते हैं।

प्राचीनकाल से ही इतिहास को अध्ययन के एक स्वतंत्र विषय के रूप में मान्यता प्राप्त है, किंतु अध्येताओं के दृष्टिकोण एवं पद्धति के अनुसार उसका स्वरूप बदलता रहा है; इसलिए कभी उसे कला के क्षेत्र में और कभी विज्ञान के क्षेत्र में स्थान दिया जाता रहा। वस्तुत: इतिहास कला है या विज्ञान, यह प्रश्न आज भी विवाद का विषय बना हुआ है। इस विवाद के मूल में यह भ्रान्ति विद्यमान है कि कोई भी वस्तु या विषय अपने आपमें कला या विज्ञान की कोटि में आ सकता है जबकि वास्तविकता यह है कि कला या विज्ञान का निर्णय विषयवस्तु के आधार पर नहीं, अपितु उसकी अध्ययन-पद्धति या रचना-पद्धति पर निर्भर है। इतिहास हमें अतीत का इतिवृत्त प्रदान करता है, किंतु यह हम पर निर्भर है कि उस इतिवृत्त का उपयोग किस प्रकार करते हैं। यदि अतीत के इतिवृत्त को हम आत्मपरक दृष्टिकोण, वैयक्तिक अनुभूति एवं ललित शैली में प्रस्तुत करते हैं तो वह 'कला' की संज्ञा से विभूषित हो सकता है जबकि वस्तुपरक दृष्टिकोण, तर्कपूर्ण शैली एवं गवेषणात्मक पद्धति से प्रस्तुत किया गया अतीत का विवरण 'विज्ञान' की विशेषताओं से युक्त माना जा सकता है। वस्तुत: इतिहास से कवि, साहित्यकार, उपदेशक, शोधकर्ता आदि विभिन्न वर्गों के लोग प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं तथा उनकी दृष्टि व पद्धति के अनुसार उसका स्वरूप भी बदलता रहा है–ऐसी स्थिति में इतिहास के भी विभिन्न रूप उपलब्ध हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

आधुनिक युग में इतिहास को कला की अपेक्षा विज्ञान के ही अधिक निकट माना जाता है। अत: प्रत्येक इतिहासकार से दृष्टिकोण की तटस्थता या वस्तुपरकता, तथ्यों की यथार्थता और निष्कर्षों की प्रामाणिकता की अपेक्षा की जाती है; यह दूसरी बात है कि विषयवस्तु की अविद्यमानता व अप्रत्यक्षता के कारण 'भौतिक विज्ञान' की-सी वैज्ञानिकता का आविर्भाव उसमें शायद ही संभव हो। वास्तव में विषय-भेद से स्वयं विज्ञान भी अनेक श्रेणियों एवं कोटियों में विभक्त हो जाता है; उदाहरण के लिए मनोविज्ञान, समाजविज्ञान व भाषाविज्ञान को हम विज्ञान की उसी श्रेणी में स्थान नहीं दे सकते जिस श्रेणी में भौतिकविज्ञान, रसायनशास्त्र और जीवविज्ञान को देते हैं। अत: इतिहास को भी हम उसी श्रेणी के विज्ञान में स्थान दे सकते हैं, जिस श्रेणी में भाषाविज्ञान व समाजविज्ञान (Sociology) को देते हैं।

हिंदी साहित्येतिहास स्त्रोत–हिंदी साहित्य के इतिहास की आधारभूत सामग्री को मुख्यत: दो भागों में रखा जा सकता है–(क) अंत:साक्ष्य तथा (ख) बाह्य साक्ष्य। अंत:साक्ष्य के अंतर्गत उपलब्ध सामग्री को भी तीन रूपों में बाँटा जा सकता है–(1) भक्त एवं संत कवियों से संबद्ध आधारभूत ग्रंथ, (2) कवि-विषयक काव्य संग्रह, (3) साहित्यकारों की प्रकाशित व अप्रकाशित रचनायें तथा कवियों के परिचय से सम्बद्ध पुस्तकें। बाह्य साक्ष्य के अंतर्गत प्राप्त सामग्री चार रूपों में मिलती है–(1) साहित्यिक सामग्री, (2) प्राचीन ऐतिहासिक स्थान, शिलालेख, वंशावलियां व प्रामाणिक उल्लेख, (3) जनश्रुतियां, (4) विभिन्न युगों की आंतरिक व बाह्य परिस्थितियों की ज्ञापक सामग्री।

साहित्य के इतिहास के लेखन कार्य में बाह्य साक्ष्य की अपेक्षा अंत:साक्ष्य अधिक विश्वसनीय और महत्त्वपूर्ण है क्योंकि एक समन्वित दृष्टिकोण संपन्न इतिहास लेखक अपनी विवेकमयी सारग्राहिणी बुद्धि से उस सामग्री से ग्राह्य व प्रामाणिक उपादानों को ग्रहण करता है। एक श्रेष्ठ इतिहास लेखक सर्वदा "सार-सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय" के आदर्श का दृढ़ता से पालन करता है।

नोट

(क) अंत:साक्ष्य

(1) **भक्त एवं संत कवियों से संबद्ध आधारभूत ग्रंथ**–इस कोटि के अंतर्गत गोकुलनाथ द्वारा रचित 'चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ताएँ', नाभादास रचित 'भक्त-माल', 'गुरुग्रंथ साहब', 'गोसाईं चरित्र', ध्रुवदास लिखित 'भक्त नामावली' तथा 'संत बानी' संग्रह व अन्य संतों की बानी आदि ग्रंथ आते हैं। चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ताओं में पुष्टि मार्ग के अनुयायी वैष्णवों की जीवनियों पर प्रकाश डाला गया है। इनमें अष्टछाप के कृष्ण भक्त कवि सूरदास और नंददास आदि सम्मिलित हैं। भक्तमाल में अनेक भक्तों के व्यक्तित्व से संबंधित 108 छप्पय छंदों का उल्लेख है। इनमें उनके जीवन और कृतित्व के बारे में श्रद्धापूर्वक उल्लेख है। इनमें अनेक भक्ति कवि भी हैं। 'गुरुग्रंथ साहब' में कबीर, रैदास तथा नाभादास की वाणियों का संग्रह है। 'गोसाईं चरित्र' में गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-चरित्र की अलौकिक घटनाओं का वर्णन मिलता है। संत बानी संग्रह तथा अन्य संतों की बानी में 24 संत कवियों के जीवन चरित्र और काव्य-संग्रह हैं। इन सब ग्रंथों में भक्तों व संत कवियों के विषय में स्तुत्यात्मक कथन है, अत: उनके उपयोग में इतिहासोचित सावधानी अपेक्षित है। गुरुमुखी लिपि में निबद्ध हिंदी कवियों के ग्रंथों ने हिंदी साहित्य के इतिहास के निर्माण में काफी उपयोगी सामग्री जुटाई है।

(2) **विविध कवियों से संबद्ध काव्य संग्रह**–इस प्रकार के अनेक काव्य संग्रह मिलते हैं–'कविमाला' में 75 कवियों की कविताओं का संकलन है। 'कालिदास हजारा' में 292 कवियों की एक हजार कविताओं का संग्रह है। भिखारीदास के 'काव्य निर्णय' में जहाँ एक ओर काव्य के आदर्शों का उल्लेख है, वहाँ उसमें कुछ कवियों का संक्षिप्त निर्देश भी कर दिया गया है। 'सत्कवि गिरा विलास' में केशव, चिंतामणी, मतिराम और बिहारी आदि 17 कवियों की कविताओं का संग्रह है। 'कवि नामावली' में लेखक ने दस कवियों का नाम गिनाकर उन्हें प्रणाम अर्पित किया है। 'विद्वान मोदतरंगिणी' में 15 कवियों का काव्य संग्रह है। सरदार कवि के 'शृंगार संग्रह' में काव्य के विविध अंगों के निरूपण के साथ-साथ 125 कवियों की कविताओं के उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं। हरिश्चंद्र के 'सुंदरोतिलक' में 69 कवियों के सवैयों का संग्रह है। 'काव्य-संग्रह' में अनेक कवियों का काव्य संग्रह है। मातादीन मिश्र के 'कवित्त रत्नाकर' में 20 कवियों का काव्य संग्रह है। शिवसिंह सेंगर के 'शिवसिंह सरोज' में एक हजार कवियों का जीवनवृत्त और उनकी कविताओं के उदाहरण जुटाए गए हैं। इतिहास की सामग्री की दृष्टि से यह ग्रंथ काफी उपादेय है। 'विचित्रोपदेश' नामक ग्रंथ में अनेक कवियों की कवितायें हैं। 'कवि रत्नमाला' में राजपूताने के 108 कवियों की कविताएँ जीवनी सहित दी गई हैं। 'हफीजुल्ला खां हजारा' के दो भागों में अनेक कवियों के कवित्त और सवैयों का संग्रह है। लाला सीता राम के 'सलेक्शन फ्रॉम हिंदी लिट्रेचर' (Selection from Hindi Literature) में अनेक कवियों की आलोचनाएँ और कविताएँ हैं। लाला भगवानदीन के 'सूक्ति सरोवर में ब्रज भाषा के अनेक कवियों की साहित्यिक विषयों पर सूक्तियाँ हैं। कृष्णानंद व्यासदेव रचित 'राग सागरोद्भव राग कल्पद्रुम' में अनेक राग-रागनियों के उल्लेख के साथ कृष्णोपासक दो सौ से अधिक कवियों के काव्य संग्रह हैं। 'दिग्विजय भूखन' में 192 कवियों का काव्य-संग्रह है। ठाकुर प्रसाद त्रिपाठी के 'रस चंद्रोदय' में 242 कवियों की कविताओं का संकलन है। उपर्युक्त काव्य-संग्रहों की विषय-वस्तु से स्पष्ट है कि इनमें अनेक कवियों की मूल्यवान कविताएँ हैं जिनके आधार पर संबद्ध कवियों की साहित्यगत प्रवृत्तियाँ निर्धारित की जा सकती हैं। इन ग्रंथों से मध्ययुगीन हिंदी कवियों और उनके काव्यों के विषय में काफी तथ्यों का पता चलता है।

(ख) बाह्य साक्ष्य

नोट

(1) **साहित्यिक सामग्री**–इसके अंतर्गत टाड का 'राजस्थान' नागरी प्रचारिणी सभा की खोजक रिपोर्टें, मोतीलाल मेनारिया की 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज', बिहार में हस्तलिखित ग्रंथ, हिंदूइज्म एंड ब्राह्मणनिज्म, कबीर एंड दि कबीर पंथ, हिस्ट्री ऑफ सिख रिलीजन, इंडियन थीइज्म, ए डिस्क्रिप्टिव केटेलॉग ऑफ वार्डिक एंड हिस्टारिकल मैन्युस्क्रिप्ट, एन आउट लाइन ऑफ दि रिलीजस लिट्रेचर ऑफ इंडिया, गोरखनाथ एंड दि कनफटा योगीज़ आदि ग्रंथ आते हैं।

टाड रचित 'राजस्थान' में राजस्थान के चारण कवियों की चर्चा है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों में अनेक अज्ञात कवियों और लेखकों का परिचय एवं उनकी रचनाओं के उदाहरण हैं। मोतीलाल मेनारिया ने अपने ग्रंथ में राजस्थान के अनेक ज्ञात व अज्ञात कवियों एवं लेखकों का परिचय और उनकी रचनाओं के उदाहरण जुटाये हैं। ऊपर अंग्रेज़ी भाषा में लिखित ग्रंथों की चर्चा की गई है उनमें हिंदू धर्म और दर्शन के सिद्धांतों के निरूपण के साथ-साथ हिंदी के अनेकों कवियों और आचार्यों के विचारों की भी समीक्षा कर दी गई है। इन ग्रंथों में अधिकतर साहित्य के धार्मिक तथा सांस्कृतिक पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। एल.पी. टैसीटरी के 'ए डिस्क्रिप्टिव केटेलॉग ऑफ वार्डिक एंड हिस्टोरिकल मैन्युस्क्रिप्ट' राजस्थान में रचित डिंगल काव्य के अनेक विवरण हैं।

(2) **प्राचीन ऐतिहासिक स्थान व शिलालेख**–शिलालेख प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने में पर्याप्त सहायक सिद्ध होते हैं। चंदेल राजा परमाल (परमार्दिदेव) के समय के जैन-शिलालेख तथा आबू पर्वत के राजा जेत और शलख के शिलालेख तत्कालीन इतिहास पर प्रकाश डालते हैं।

ऐतिहासिक स्थानों के अंतर्गत काशी में कबीर चौरा, अस्सी घाट, कबीर की समाधि, बस्ती जिले में आमी नदी का तट, अमेठी में जायसी की समाधि, राजापुर में तुलसी की प्रस्तर मूर्ति, सोरो में तुलसीदास के स्थान का अवशेष तथा नरसिंह जी का मंदिर, केशवदास का स्थान टीकमगढ़ और सागर आदि आते हैं।

(3) **जनश्रुतियाँ**–उपर्युक्त सामग्री के अतिरिक्त कवियों की जीवनियों और उनकी साधना से संबद्ध अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। नि:संदेह जनश्रुतियाँ विशेष प्रामाणिक नहीं होतीं किंतु उनमें सत्य की ओर कुछ संकेत अवश्य मिल जाते हैं। जनश्रुतियाँ शताब्दियों से जन जिह्वा की सवारी करती आ रही होती हैं अत: इनमें अतिरंजना का योग आवश्यक है। फिर भी एक कृति इतिहास की मनीषा उनके ग्राहणीय अंशों का सार्थक उपयोग कर लेती है।

(4) विभिन्न युगों की परिस्थितियों की बोधक सामग्री में विभिन्न युगों के इतिहास आदि ग्रंथ आते हैं।

ऊपर हमने हिंदी-साहित्य के इतिहास की जिस आधारभूत सामग्री अथवा मूल स्रोतों की चर्चा की है, वह इतनी अपर्याप्त है कि उसके आधार पर हिंदी साहित्य का एक सुनिश्चित व प्रामाणिक इतिहास तैयार हो पाना कठिन है। अत: इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय विश्वविद्यालयों द्वारा गत 40-50 वर्षों में इस दिशा में किये गये महत्त्वपूर्ण अनुसंधानों और शोध प्रबंधों की सामग्री का सावधानीपूर्वक उपयोग आवश्यक है। इन अनुसंधानों से काफी महत्त्वपूर्ण तथ्य आलोक में आए हैं। आधुनिक काल के इतिहास के लिए डॉ. माताप्रसाद गुप्त तथा डॉ. प्रेमनारायण टंडन आदि अनेक लेखकों द्वारा समकालीन लेखकों और उनकी रचनाओं के वृत्तसंग्रह निर्देशिकाओं के रूप में पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

4.4. 'इतिहास-दर्शन' की रूपरेखा

जैसा कि पीछे संकेत दिया जा चुका है, इतिहास के अध्ययन में विभिन्न विद्वान विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों का प्रयोग करते रहे हैं तथा ये दृष्टिकोण भी समय-समय पर बदलते रहे हैं–इसी तथ्य

के आधार पर 'इतिहास-दर्शन' विषय की स्थापना हुई है जिसमें इतिहास के संबंध में प्रयुक्त व प्रचलित विभिन्न दृष्टिकोणों धारणाओं व विचारों का अध्ययन किया जाता है। अस्तु, इतिहास संबंधी इन्हीं विचार या धारणाओं को समूह-रूप में 'इतिहास-दर्शन' की संज्ञा दी जाती है।

नोट

वैसे, पश्चिम के कुछ विद्वानों ने 'इतिहास-दर्शन' (Philosophy of History) का प्रयोग संकीर्ण व सीमित अर्थ में करते हुए अपने-अपने दृष्टिकोणों को ही उस पर आरोपित करने का प्रयास किया है। सर्वप्रथम वोल्तेर ने इस संज्ञा का प्रयोग करते हुए इसके अर्थ को केवल 'आलोचनात्मक या वैज्ञानिक इतिहास' तक सीमित रखने का प्रयास किया। हीगल ने इसका प्रयोग विश्व-इतिहास के अर्थ में तथा परवर्ती युग के कुछ विद्वानों ने केवल परीक्षणात्मक यथार्थवादी दृष्टिकोण के लिए किया। किंतु, आज 'इतिहास-दर्शन' के नाम से उपलब्ध पुस्तकों में पूर्व से पश्चिम तक तथा प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के उन सभी दृष्टिकोणों व विचारों का प्रतिपादन किया जाता है जो इतिहास के अध्ययन से प्रयुक्त हुए हैं। ऐसी स्थिति में, यदि हम एकांगी और एकपक्षीय धारणाओं से बचते हुए 'इतिहास-दर्शन' का सर्वांगीण व सर्वपक्षीय बोध प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें उसे उसी व्यापक एवं समन्वित अर्थ में ग्रहण करना होगा जिसके अनुसार 'इतिहास-दर्शन' उन दृष्टिकोणों विचारों व अध्ययन-पद्धतियों के समूह का सूचक है, जिनका प्रयोग इतिहास के अध्ययन से संभव है।

इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण: इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण प्राय: आदर्शमूलक एवं अध्यात्मवादी रहा है, इसीलिए उसमें भौतिक जगत की स्थूल घटनाओं में भी आध्यात्मिक तत्वों व प्रवृत्तियों के अनुसंधान की प्रवृत्ति रही है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में प्राय: सामयिक तत्वों की अपेक्षा चिरन्तन मूल्यों को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है, अत: यहाँ के प्राचीन इतिहासकारों ने अतीत की व्याख्या भी इसी दृष्टिकोण से की; अर्थात् वे परिवर्तनशील अतीत में से भी उन प्रवृत्तियों का अनुसंधान करते रहे जो मनुष्य को स्थायी एवं अमर बनाती हैं। उन्होंने घटनाओं एवं क्रिया-कलापों की व्यवस्था भौतिक उपलब्धियों एवं वैयक्तिक सफलताओं की दृष्टि से कम करके समष्टि हित की दृष्टि से अधिक की। इसीलिए महाभारतकार ने जहाँ इतिहास को एक ऐसा पूर्ववृत्त माना जिसके माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश दिया जा सके, तो पौराणिकों ने ऋषियों एवं महापुरुषों के चरित गान को 'इतिहास' के रूप में स्वीकार करते हुए घटना की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्त्व प्रदान किया।

यद्यपि आगे चलकर बाण, कल्हण आदि इतिहासकारों ने इससे भिन्न दृष्टि को अपनाते हुए आध्यात्मिक, नैतिक एवं चारित्रिक तत्वों की अपेक्षा यथार्थपरक वस्तु एवं तथ्यों को अधिक महत्त्व प्रदान किया, किंतु काव्यात्मकता एवं अलंकृति का मोह वे भी न त्याग सके। इसीलिए जहाँ प्राचीन युग में भारतीय इतिहासकारों की रचनाएँ चारित्रिक, मूल्यों, नैतिक उपदेशों व आध्यात्मिक रूपकों से युक्त होकर पौराणिक रूप में परिणत हो गईं, वहाँ परवर्ती इतिहासकारों की रचनाएँ शुद्ध इतिहास की अपेक्षा 'काव्यात्मक इतिहास' या 'ऐतिहासिक काव्य' के रूप में विकसित हुई। वस्तुत: भारत का प्राचीन इतिहासकार सत्य-शोधन तक ही सीमित नहीं रहा, वह 'शिव' और 'सुंदरम्' के समन्वय के लिए भी बराबर सचेष्ट रहा। इसे व्यावहारिक दृष्टि से जहाँ उसका 'गुण' कहा जा सकता है, वहाँ सैद्धान्तिक दृष्टि से यह उसका सबसे बड़ा 'दोष' भी माना जा सकता है, क्योंकि उसने इतिहास के कलेवर में कला और नीति को स्थान देकर उसे शुद्ध ऐतिहासिकता से वंचित रखा। फिर भी, यदि इतिहास के कलात्मक या काव्यात्मक रूप का किसी भी दृष्टि से कोई महत्त्व है तो उस दृष्टि से भारतीय इतिहासकार को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जा सकता है। वास्तव में भारतीय इतिहासकार ने अपनी संस्कृति एवं जीवन के आदर्शों के अनुरूप ही इतिहास के क्षेत्र में भी संश्लेषणात्मक व समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचय देते हुए उसमें सत्यं, शिवं व सुंदरम् के समन्वय का प्रयास किया, जो उसकी परम्पराओं को देखते हुए उचित व स्वाभाविक कहा जा सकता है।

इतिहास के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण : जहाँ भारतीय इतिहासकारों के दृष्टिकोण में आदर्शवादिता की प्रमुखता रही, वहाँ पाश्चात्य इतिहासकार प्राय: यथार्थवादी दृष्टिकोण से अनुप्राणित रहे हैं। 'इतिहास' (History) के प्रथम व्याख्याता यूनानी विद्वान हिरोदोतस (456-545 ई.पू.) ने इसे 'खोज', 'गवेषणा' या 'अनुसंधान' के अर्थ में ग्रहण करते हुए इसके चार लक्षण निर्धारित किये थे–एक तो यह कि इतिहास वैज्ञानिक विद्या है, अत: इसकी पद्धति आलोचनात्मक होती है। दूसरे, यह मानव जाति से संबंधित होने के

कारण मानवीय विद्या (मानविकी) है। तीसरे, यह तर्कसंगत विद्या है, अत: इसमें तथ्य और निष्कर्ष प्रमाण पर आधारित होते हैं। चौथे, यह अतीत के आलोक में भविष्य पर प्रकाश डालता है, अत: यह शिक्षाप्रद विद्या है। इसके अतिरिक्त हिरोदोतस ने यह भी स्पष्ट किया कि इतिहास का लक्ष्य प्राकृतिक या भौतिक परिवर्तन की प्रक्रिया की व्याख्या करना है।

नोट

प्राचीन युग में सामान्यत: हिरोदोतस का ही दृष्टिकोण मान्य रहा, किन्तु आधुनिक युग के विभिन्न विद्वानों ने इसके संबंध में नये दृष्टिकोण से विचार किया। इटैलियन विद्वान विको (1668-1744) ने इतिहास का संबंध न केवल अतीत से, अपितु वर्तमान से भी स्थापित करते हुए प्रतिपादित किया कि इतिहास का निर्माता स्वयं मनुष्य है और मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियाँ सदा समान रहती हैं, अत: विभिन्न युगों के इतिहास में भी समान प्रवृत्तियों का मिलना स्वाभाविक है। इतिहास-लेखन की पद्धति के संबंध में भी विको ने अनेक सुझाव देते हुए इतिहासकारों को अतिरंजना व अतिशयोक्ति से बचने और अतीत को अधिक महत्त्व न देने बात कही।

जर्मन दार्शनिक कांत (1724-1804) ने इतिहास की नयी व्याख्या करते हुए प्रतिपादित किया कि सृष्टि का बाह्य विकास प्रकृति की आंतरिक विकास-प्रक्रिया का प्रतिबिम्ब-मात्र है, अत: इतिहास को भी इसी रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए, अर्थात् ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे प्राकृतिक नियमों की प्रवृत्ति को समझने का प्रयास किया जाना चाहिए। हीगल (1770-1831) ने कांत की विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए स्पष्ट किया कि इतिहास केवल घटनाओं का अन्वेषण एवं संकलन-मात्र नहीं है, अपितु उसके भीतर कारण-कार्य की शृंखला विद्यमान है। हीगल के मतानुसार विश्व इतिहास की प्रक्रिया का मूल लक्ष्य मानव चेतना का विकास है जो द्वन्द्वात्मक पद्धति पर आधारित है। इस द्वंद्वात्मक पद्धति या प्रक्रिया के अनुसार वाद (thesis) एवं प्रतिवाद (anti-thesis) के द्वंद्व से समवाद (synthesis) का विकास होता है। इतिहास की व्याख्या भी इसी द्वंद्वात्मक पद्धति के आधार पर होनी चाहिए।

उन्नीसवीं शती में डारविन ने अपने विकासवादी सिद्धांत की स्थापना के द्वारा इतिहास को एक नूतन दृष्टि, शक्ति व गति प्रदान की। डारविन परवर्ती युग में विभिन्न चिन्तकों ने आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में विभिन्न विकासवादी सिद्धांतों की स्थापना करते हुए प्रमाणित किया कि सृष्टि का कोई अंग या तत्व एकाएक घटित या रचित न होकर क्रमश: विकसित है। अत: वैज्ञानिक दृष्टि से 'इतिहास' का अर्थ 'घटना-समूह' का संकलन न होकर 'विकास-क्रम' का विवेचन है। कार्ल-मार्क्स, एंजिल्स, मारगन, हक्सले प्रभृति ने विकासवाद के विभिन्न पक्षों की व्याख्या अपनी-अपनी दृष्टि से करते हुए उसे विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। बीसवीं शती के अनेक इतिहासकारों–स्पेंगलर, ट्वायनबी, टर्नर आदि ने विश्व संस्कृति और सभ्यता के इतिहास की व्याख्या विकासवादी नियमों व प्रवृत्तियों के आधार पर करने की चेष्टा की है।

अस्तु, आज पाश्चात्य इतिहास-दर्शन के सर्वप्रमुख एवं सर्वाधिक विकसित दृष्टिकोण के रूप में विकासवादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया जा सकता है, किंतु अनेक दृष्टियों से यह दृष्टिकोण भी अभी तक पूर्ण विकसित नहीं कहा जा सकता। एक तो अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, संस्कृति आदि विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करनेवाले विकासवादी चिन्तकों के सिद्धांतों में भी परस्पर अन्विति एवं एकरूपता का अभाव है, जहाँ डारविन का विकासवाद प्राणिशास्त्र में लागू होता है, वहाँ मार्क्स का अर्थशास्त्र में, स्पेन्सर का भौतिकविज्ञान में या बर्गसॉ का मनोविज्ञान में लागू होता है। दूसरे, विकासवादी सिद्धांतों के विरोध में भी प्रतिक्रिया हो रही है; विद्वानों का एक वर्ग इन्हें 'विधेयवादी' कहकर ठुकराने का प्रयास कर रहा है। सार्त्र आदि के वे अनुयायी जो कि नियमबद्धता, पूर्व-निश्चिता एवं पूर्वनिर्धारण के विरोधी हैं, इतिहास को भी किसी नियम से आबद्ध करना कैसे स्वीकार कर सकते हैं! अस्तित्ववादियों के अनुसार जब प्रकृति एवं मनुष्य ही नियमों से मुक्त हैं तो उनके इतिहास को नियमबद्ध कैसे किया जा सकता है! किंतु हमारे विचार में नियम और अनुशासन का यह विरोध अवैज्ञानिकता एवं अराजकता का ही पोषक है। कदाचित् हीगल के शब्दों में यह भी वाद का प्रतिवाद मात्र है, जो संभवत: हमें किसी नये 'समवाद' की ओर अग्रसर करने में सहायक सिद्ध हो सके।

4.5. साहित्य का इतिहास-दर्शन

नोट

सामान्यत: 'इतिहास' शब्द से राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास का ही बोध होता है, किंतु वास्तविकता यह है कि सृष्टि की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसका इतिहास से संबंध न हो। अत: साहित्य भी इतिहास से असंबद्ध नहीं है। साहित्य के इतिहास में हम प्राकृतिक घटनाओं व मानवीय क्रियाकलापों के स्थान पर साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से करते हैं। वैसे, देखा जाये तो साहित्यिक रचनाएँ भी मानवीय क्रियाकलापों से भिन्न नहीं हैं; अपितु वे विशेष वर्ग के मनुष्यों की विशिष्ट क्रियाओं की सूचक हैं। दूसरे शब्दों में, साहित्यिक रचनाएँ साहित्यकारों की सृजनात्मक क्रियाओं और प्रवृत्तियों की सूचक होती हैं, अत: उनके इतिहास को समझने के लिए उनके रचयिताओं तथा उनसे संबंधित स्थितियों, परिस्थितियों और परंपराओं को समझना भी आवश्यक है। प्रारंभ में जिस प्रकार राजनीतिक इतिहास में राजाओं के जीवन-चरित्र एवं राजनीतिक घटनाओं को संकलित कर देना पर्याप्त समझा जाता था, उसी प्रकार साहित्य के इतिहास में भी रचनाओं व रचयिताओं का स्थूल परिचय ही पर्याप्त होता था, किंतु ज्यों-ज्यों इतिहास के सामान्य दृष्टिकोण का विकास होता गया, त्यों-त्यों साहित्येतिहास के दृष्टिकोण में भी तदनुसार सूक्ष्मता व गंभीरता आती गयी। यद्यपि इतिहास के अन्य क्षेत्रों की तुलना में साहित्य का इतिहास-दर्शन एवं उसकी पद्धति अब भी बहुत पिछड़ी हुई है, किंतु फिर भी समय-समय पर इस प्रकार के अनेक प्रयास हुए हैं जिनका लक्ष्य साहित्येतिहास को भी सामान्य इतिहास के स्तर पर पहुँचाने का रहा है।

यद्यपि अंग्रेज़ी-साहित्य के विभिन्न इतिहासकारों द्वारा यह धारणा बहुत पहले प्रचलित हो चुकी थी कि किसी भी जाति के साहित्य का इतिहास उस जाति के सामाजिक एवं राजनीतिक वातावरण को ही प्रतिबिम्बित करता है या साहित्य की प्रवृत्तियां संबंधित समाज की प्रवृत्तियों की सूचक होती हैं, फिर भी इस धारणा को एक सुव्यवस्थित सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय फ्रेंच विद्वान तेन (Taine) को है जिन्होंने अपने अंग्रेज़ी-साहित्य के इतिहास में प्रतिपादित किया कि साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के मूल में मुख्यत: तीन प्रकार के तत्व सक्रिय रहते हैं–जाति (race), वातावरण (milieu), क्षण-विशेष (moment) । तेन ने अपनी व्याख्या के द्वारा यह भलीभांति स्पष्ट किया कि किसी भी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उससे संबंधित जातीय परंपराओं, राष्ट्रीय और सामाजिक वातावरण एवं सामयिक परिस्थितियों का अध्ययन-विश्लेषण आवश्यक है। तेन के इस सिद्धांत की आलोचना करते हुए हडसन ने आक्षेप किया कि उन्होंने साहित्य की विकास-प्रक्रिया का सारा महत्त्व उपर्युक्त तीन तत्वों को ही दे दिया, जबकि साहित्यकार या काव्य-रचयिता के व्यक्तित्व एवं उसकी प्रतिभा की सर्वथा उपेक्षा कर दी। निश्चय ही, हडसन का यह आक्षेप तेन के सिद्धांत की एक महत्त्वपूर्ण न्यूनता या त्रुटि की ओर संकेत करता है, किंतु फिर भी हम इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि पूर्ववर्ती इतिहासकारों की तुलना में तेन ने अपेक्षाकृत अधिक व्यापक, स्पष्ट एवं विकसित सिद्धांत प्रस्तुत किया था, जिसके आधार पर साहित्य की विकास-प्रक्रिया को बहुत कुछ स्पष्ट किया जा सकता है।

साहित्येतिहास की व्यवस्था में जर्मन चिन्तकों का भी कम योगदान नहीं है। वैसे तो उनके द्वारा कई सिद्धांत स्थापित हुए, किंतु उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'युग-चेतना' (spirit of age) का सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार, साहित्य के इतिहास की व्याख्या तद्युगीन चेतना के आधार पर की जानी चाहिए। ए.एच. कॉफे ने महान कवि गेटे की साहित्यिक प्रवृत्तियों की व्याख्या युगीन चेतना के आधार पर करके इस सिद्धांत की महत्ता को प्रमाणित किया है। किंतु, हमारे विचार में यह सिद्धांत भी एकांगी ही है क्योंकि साहित्य के विकास में युगीन चेतना का ही नहीं, पूर्ववर्ती परंपराओं का भी न्यूनाधिक योगदान रहता है; अत: उनकी उपेक्षा करके सारा श्रेय युगीन चेतना को ही दे देना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

इधर मार्क्सवाद से प्रभावित आलोचकों ने द्वंद्वात्मक भौतिक विकासवाद, वर्ग-संघर्ष और आर्थिक परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य की विकास-प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए, सैक्युलिन ने रूसी साहित्य के इतिहास की व्याख्या करते हुए साहित्य की विभिन्न प्रक्रियाओं व प्रवृत्तियों का संबंध आर्थिक परिस्थितियों एवं वर्ग-संघर्ष की प्रतिक्रिया से स्थापित किया है। किंतु कई बार मार्क्सवादी आलोचक साहित्य की सभी प्रवृत्तियों के मूल में अर्थ को ही स्थापित करके एक ऐसा अनर्थ कर देते हैं जो एकांगिता व अतिवादिता का प्रमाण होता है।

नोट

मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण और अर्थविज्ञान के आधार पर भी साहित्य के विभिन्न पक्षों की–विशेषत: शैलीपक्ष के–विकास की व्याख्या विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हुई है, जिनमें आई.ए. रिचड्र्स, विलियम एम्पसन, सी. एस. लेविस, डब्ल्यू. पी. कर, एफ. डब्ल्यू. बैटसन प्रभृति के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विद्व ानों द्वारा विभिन्न दृष्टियों से शैलीगत प्रवृत्तियों के विश्लेषणों एवं उनके आधारभूत कारणों को खोजने का प्रयास हुआ है, जिससे आंशिक रूप में साहित्येतिहास को भी समझने में सहायता मिल सकती है। किंतु, इनके निष्कर्षों में पारम्परिक सामंजस्य, एकरूपता एवं अन्विति का अभाव होने के कारण वे अध्येता के मार्ग को प्रशस्त कम और कंटकाकीर्ण अधिक करते हैं।

अस्तु साहित्येतिहास की व्याख्या के लिए विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रयास होते रहे हैं जो हमें किसी निश्चित, स्पष्ट एवं समन्वित निष्कर्ष तक नहीं पहुँचाते, किंतु फिर भी इनसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि आज साहित्य का अध्ययन-विश्लेषण केवल साहित्य तक सीमित रहकर नहीं किया जा सकता; उसकी विषयगत प्रवृत्तियों व शैलीगत प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण के लिए उससे संबंधित राष्ट्रीय परंपराओं, सामाजिक वातावरण, आर्थिक परिस्थितियों, युगीन चेतना एवं साहित्यकार की वैयक्तिक प्रवृत्तियों का विवेचन-विश्लेषण आवश्यक है। अत: कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त सिद्धांत साहित्य की विकास-प्रक्रिया के विभिन्न अंगों, पक्षों व तत्वों के सूचक हैं। यद्यपि इनमें कोई भी सिद्धांत परिपूर्ण नहीं है, किंतु आंशिक सत्य से भी ये सर्वथा शून्य नहीं हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए किसी भी साहित्य की विकास-प्रक्रिया के अध्ययन के लिए उससे संबंधित इन पांच तत्वों पर विचार किया जाना चाहिए–(1) सर्जन-शक्ति (साहित्यकार की प्रतिभा और उसका व्यक्तित्व) (2) परंपरा (साहित्यिक व सांस्कृतिक परंपराएँ), (3) वातावरण, (4) द्वंद्व और (5) संतुलन। वस्तुत: यह सिद्धांत सृष्टि की सामान्य विकास-प्रक्रिया की दृष्टि से प्रतिपादित है, जिसे साहित्य पर लागू करते हुए संक्षेप में कहा जा सकता है–साहित्य के क्षेत्र में भी प्राकृतिक सर्जन-शक्ति अर्थात् साहित्यकार की नैसर्गिक प्रतिभा परंपरा (सांस्कृतिक तथा साहित्यिक परंपरा) और वातावरण (युगीन परिस्थितियों, प्रवृत्तियों तथा चेतना) के द्वंद्व से प्रेरित होकर गतिशील होती है, जिसका चरम लक्ष्य द्वंद्व के दोनों पक्षों में संतुलन-स्थापन होता है। वस्तुत: यह द्वंद्व ही साहित्यकार की मूल प्रेरणा होता है, किंतु स्थितिविशेष व व्यक्तिविशेष के अंतर से द्वंद्व का क्षेत्र परिवर्तित होता रहता है; अत: कोई साहित्यकार अपने ही आन्तरिक या मानसिक द्वंद्व से परिचालित होता है, तो कोई पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक या अंतर्राष्ट्रीय से। एक क्षेत्र का द्वंद्व संतुलित या शांत हो जाने पर साहित्यकार या साहित्यकारों की सर्जन-शक्ति किसी अन्य क्षेत्र के द्वंद्व की ओर उन्मुख होती है। वस्तुत: परंपरा और युगीन वातावरण के अंतर्विरोध से उत्पन्न द्वंद्व ही साहित्य के विभिन्न आंदोलनों, उसकी धाराओं और प्रवृत्तियों को गति देता हुआ साहित्य की विकास-प्रक्रिया को संचालित करता है। अत: साहित्येतिहास की विकासवादी व्याख्या के लिए उन सभी तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है जो साहित्यकार के व्यक्तित्व एवं उससे संबंधित पूर्व-परंपरा, युगीन वातावरण, द्वंद्व के स्रोत, अभीष्ट लक्ष्य आदि पर प्रकाश डालते हैं।

साहित्य-विकास के उपर्युक्त सामान्य सिद्धांत के अतिरिक्त कुछ ऐसे सिद्धांत भी प्रतिपादित किये गये हैं जिनसे साहित्य के रूपात्मक, प्रवृत्यात्मक तथा गुणात्मक विकास के अध्ययन में सहायता मिल सकती है। किंतु, यहाँ इनका विस्तृत परिचय न देकर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिस प्रकार सामान्य इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन विकासवाद के आधार पर ही संभव है, उसी प्रकार साहित्य के इतिहास की भी वैज्ञानिक व्याख्या के लिए विकासवादी सिद्धांतों का आधार ग्रहण करना आवश्यक है, यह दूसरी बात है कि जो लोग इतिहास को भी कल्पना-विकास और भाव-सौंदर्य का क्षेत्र मानते हुए उसे कला की श्रेणी में स्थान देते हैं, वे विकासवादी दृष्टिकोण और वैज्ञानिक पद्धति-दोनों को ही व्यर्थ समझें।

4.6. साहित्येतिहास और साहित्यालोचन

सामान्यत: साहित्य के इतिहास में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का तथा साहित्यालोचन में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उपयोग किया जाता है तथा इस दृष्टि से ये दोनों एक-दूसरे के पूरक व सहयोगी सिद्ध होते हैं, किंतु फिर भी हमें इस भ्रान्ति से बचना चाहिए कि दोनों मूलत: एक ही हैं। इतिहास का लक्ष्य सदा अतीत की व्याख्या करते हुए विवेच्य वस्तु के विकास-क्रम को स्पष्ट करने का होता है जबकि आलोचना

नोट

का लक्ष्य वस्तु के गुण-दोषों का अन्वेषण करते हुए उसका मूल्य निर्धारित करना होता है। इतिहासकार भी कृति के गुण-दोषों पर विचार कर सकता है, किंतु वहाँ भी उसका लक्ष्य उन्हें युगीन प्रवृत्तियों के संदर्भ में देखने का रहता है; स्वतंत्र रूप से मूल्यांकन का नहीं। दूसरे, देश (space) और काल (time) के महत्त्वपूर्ण आयामों में से जहाँ आलोचक देश या स्थान को दृष्टिगत रखते हुए उसके स्थिर या शाश्वत तत्त्वों के अनुसंधान पर बल देता है; वहाँ इतिहासकार कालक्रम और युगीन संदर्भ को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए परिवर्तनशील तत्त्वों के विश्लेषण में प्रवृत्त होता है। तीसरे, आलोचक व्यक्तिविशेष या कृतिविशेष का मूल्यांकन स्वतंत्र रूप में भी कर सकता है जबकि इतिहासकार व्यक्ति और कृति को सदा पूर्व-परंपरा और युगीन वातावरण के संदर्भ में रखकर ही उसके योगदान को स्पष्ट करता है। चौथे, आलोचक के लिए महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों एवं रचनाओं का चयन भी पर्याप्त सिद्ध हो सकता है, किंतु इतिहासकार के लिए ऐसा संभव नहीं। इतिहास की संपूर्ण धारा को समझने के लिए सम्राट अकबर जितना महत्त्वपूर्ण है, हेमू वणिक भी उससे कम नहीं है; या महाकवि तुलसीदास का सर्वगुण-संपन्न महाकाव्य उसके लिए जितना महत्त्वपूर्ण है, अनेक दोषों से ग्रस्त केशव की 'रामचंद्रिका' भी उसके लिए उतनी ही उपयोगी है—वह इनमें से किसी एक को भी ठुकराकर इतिहास की विकास-प्रक्रिया के विश्लेषण में सफल नहीं हो सकता।

अस्तु, संक्षेप में कहा जा सकता है कि साहित्य का इतिहासकार जहाँ अतीत के सृजन-कार्य को विभिन्न परंपराओं और धाराओं के रूप में ग्रहण करते हुए युगविशेष के संदर्भ में उनका विश्लेषण करता है, वहाँ आलोचक किन्हीं स्थापित मूल्यों के आधार पर या नये मूल्यों की स्थापना के उद्देश्य से विभिन्न कृतियों के मूल्यपरक तत्वों का उद्घाटन करता है। एक के द्वारा जहाँ 'ऐसा क्यों हुआ' का उत्तर दिया जाता है, वहाँ दूसरा 'इसमें क्या विशेषता है' की व्याख्या करता है। फिर भी, अनेक कारणों से आज साहित्येतिहास और साहित्यालोचन की सीमाएँ घुल-मिल-सी गई है जिसके अनेक कारण हैं। एक तो साहित्य-क्षेत्र में विशेषत: हिंदी-साहित्य में—इतिहासकार और आलोचक का कार्य कई बार एक ही व्यक्ति द्वारा संपन्न होता रहता है; इतना ही नहीं, अनेक बार 'इतिहास' संज्ञक रचनाओं में ऐतिहासिक विवेचन की अपेक्षा आलोचनात्मक अनुशीलन अधिक रहता है और आलोचनात्मक पुस्तकों में मूल्यांकन की अपेक्षा ऐतिहासिक व्याख्या अधिक उपलब्ध होती है। कदाचित इसी से इस धारणा का प्रचार हुआ कि अच्छे आलोचक के लिए अच्छा इतिहासकार या इसके विपरीत अच्छे इतिहासकार के लिए अच्छा आलोचक होना आवश्यक है; अवश्य ही आंशिक रूप में यह बात सही है किंतु अंतत: दोनों के लिए दो भिन्न प्रकार की प्रतिभाएँ, दृष्टियाँ और पद्धतियाँ अपेक्षित हैं—इसे प्राय: भुला दिया गया है। इसके अतिरिक्त अधुनातन लेखन में कुछ वर्गों द्वारा आलोचना और इतिहास के भी मूल स्वरूप को विकृत करने की चेष्टा की जा रही है—आलोचना में जहाँ मूल्य और मूल्यांकन के स्थान पर आत्मप्रशंसा, वैयक्तिक प्रतिक्रिया, एकपक्षीय विवरण, समाचारपत्रीय परिचय को प्रस्तुत किया जा रहा है; वहाँ इतिहास में परंपराओं, धाराओं व युगीन प्रवृत्तियों के तटस्थ विश्लेषण के स्थान पर वर्गविशेष, वादविशेष या व्यक्तिविशेष की प्रतिष्ठा का प्रयास हो रहा है। ऐसी स्थिति में, यदि दोनों का पारस्परिक अंतर अस्पष्ट या लुप्त हो जाये तो कोई आश्चर्य नहीं।

4.7. हिंदी-साहित्येतिहास की परंपरा

यद्यपि उन्नीसवीं शती से पूर्व विभिन्न कवियों और लेखकों द्वारा अनेक ऐसे ग्रंथों की रचना हो चुकी थी जिनमें हिंदी के विभिन्न कवियों के जीवन-वृत्त एवं कृतित्व का परिचय दिया गया है, जैसे—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', 'भक्तमाल', 'कविमाला', 'कालिदास हजारा' आदि—किंतु इनमें काल-क्रम, सन्-संवत् आदि का अभाव होने के कारण इन्हें 'इतिहास' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वस्तुत: अब तक की जानकारी के अनुसार हिंदी-साहित्य के इतिहास-लेखन का सबसे पहला प्रयास एक फ्रेंच विद्वान **गार्सा द तॉसी** का ही समझा जाता है जिन्होंने फ्रेंच भाषा में 'इस्त्वार द ला लितरेत्युर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी' ग्रंथ लिखा, जिसमें हिंदी और उर्दू के अनेक कवियों का विवरण वर्णक्रमानुसार दिया गया है। इसका प्रथम भाग 1839 में तथा द्वितीय 1847 ई. में प्रकाशित हुआ था। 1871 ई. में इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसमें इसे तीन खंडों में विभक्त करते हुए पर्याप्त संशोधन-परिवर्तन किया गया। इस ग्रंथ का महत्त्व केवल इसी दृष्टि से है कि इसमें हिंदी-काव्य का सर्वप्रथम इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास

नोट

किया गया है तथा कवियों के रचना-काल का भी निर्देश किया गया है; अन्यथा कवियों को काल-क्रम के स्थान पर अंग्रेज़ी-वर्णक्रम से प्रस्तुत करना, काल-विभाजन एवं युगीन प्रवृत्तियों के विवेचन का कोई प्रयास न करना, हिंदी के कवियों में इतर भाषाओं को घुला-मिला देना आदि ऐसी त्रुटियाँ हैं जिनके कारण इसे 'इतिहास' मानने में संकोच होता है। फिर भी, भारत से दूर बैठकर विदेशी भाषा में सर्वप्रथम इस प्रकार का प्रयास करना भी अपने-आपमें कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वस्तुत: किसी भी क्षेत्र में किये गये प्रारंभिक एवं प्राथमिक प्रयास का महत्त्व प्राय: उसकी उपलब्धियों की दृष्टि से नयी, अपितु नयी दिशा की ओर अग्रसर होने की दृष्टि से ही माना जाता है—यह बात तॉसी के प्रयास पर भी लागू होती है। अस्तु, उनके ग्रंथ में अनेक त्रुटियों व न्यूनताओं के होते हुए भी हम उन्हें हिंदी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा में' उसके प्रवर्त्तक के रूप में, गौरवपूर्ण स्थान देना उचित समझते हैं।

तॉसी की परंपरा को आगे बढ़ाने का श्रेय शिवसिंह सेंगर को है, जिन्होंने 'शिवसिंह सरोज' (1883) में लगभग एक सहस्र भाषा-कवियों का जीवन-चरित उनकी कविताओं के उदाहरण सहित प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कवियों के जन्म-काल, रचना-काल आदि के संकेत भी दिये गये हैं, यह दूसरी बात है कि वे बहुत विश्वसनीय नहीं हैं। इतिहास के रूप में इस ग्रंथ का भी महत्त्व अधिक नहीं है, किंतु फिर भी इसमें उस समय तक उपलब्ध हिंदी कविता संबंधी ज्ञान को संकलित कर दिया गया है, जिससे परवर्ती इतिहासकार लाभ उठा सकते हैं—इसी दृष्टि से इसका महत्त्व है।

सन् 1888 में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की पत्रिका के विशेषांक के रूप में **जार्ज ग्रियर्सन** द्वारा रचित 'द मॉडर्न वर्नेक्युलर लिट्रेचर ऑफ हिंदुस्तान' का प्रकाशन हुआ, जो नाम से 'इतिहास' न होते हुए भी सच्चे अर्थ में हिंदी-साहित्य का पहला इतिहास कहा जा सकता है। इसमें लेखक ने कवियों और लेखकों का कालक्रमानुसार वर्गीकरण करते हुए उनकी प्रवृत्तियों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनके काल-विभाजन संबंधी प्रयास के गुण-दोषों पर आगे अलग रूप में विचार किया जायेगा, किंतु यहाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हिंदी भाषा और हिंदी-साहित्य के स्वरूप एवं विकास के संबंध में जिस दृष्टिकोण का परिचय ग्रियर्सन ने दिया है, वह परवर्ती इतिहासकारों के लिए भी पथ-प्रदर्शक सिद्ध हुआ। मुख्य बात यह है कि उन्होंने हिंदी-साहित्य का भाषा की दृष्टि से क्षेत्र निर्धारित करते हुए स्पष्ट किया कि इसमें न तो संस्कृत-प्राकृत को सम्मिलित किया जा सकता है और न ही अरबी-फारसी मिश्रित उर्दू को। उन्होंने अपनी भाषा नीति को स्पष्ट करते हुए भूमिका में लिखा है: "....मैं आधुनिक भाषा-साहित्य का ही विवरण प्रस्तुत करने जा रहा हूँ। अत: मैं संस्कृत में ग्रंथ-रचना करने वाले लेखकों का विवरण नहीं दे रहा हूँ। प्राकृत में लिखी पुस्तकों को भी विचार के बाहर रख रहा हूँ। भले ही प्राकृत कभी बोलचाल की भाषा रही हो, पर आधुनिक भाषा के अंतर्गत नहीं आती। मैं न तो अरबी-फ़ारसी के भारतीय लेखकों का उल्लेख कर रहा हूँ और न ही विदेश से लायी गई साहित्यिक उर्दू के लेखकों का ही—मैंने इन अंतिम को, उर्दूवालों को, अपने इस विचार से जानबूझकर बहिष्कृत कर दिया है, क्योंकि इन पर पहले ही गार्सा द तॉसी ने पूर्णरूप से विचार कर लिया है।" इस प्रकार हिंदी भाषा के संबंध में जिस स्पष्ट एवं निर्भ्रान्त दृष्टि का परिचय ग्रियर्सन ने दिया, वह निश्चय ही उस युग की भूमिका में महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है तथा यह भी कहा जा सकता है कि दृष्टि की इसी स्वच्छता के कारण वे अपने लक्ष्य में सफल हो सके। ग्रियर्सन की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने ग्रंथ के आधार-स्रोत के रूप में तॉसी एवं शिवसिंह सेंगर के ग्रंथों के अतिरिक्त भक्तमाल, गोसाईं-चरित्र, हज़ारा, काव्य-संग्रह आदि सत्रह रचनाओं का उल्लेख करते हुए स्थान-स्थान पर मूलाधारों के संदर्भ-संकेत भी दिये हैं, जिससे उस तटस्थता, प्रामाणिकता और ईमानदारी का बोध होता है जो किसी भी इतिहासकार के लिए आवश्यक है। यह दुर्भाग्य की बात है कि परवर्ती-हिंदी-साहित्यकारों द्वारा इस परंपरा का निर्वाह सम्यक् रूप में नहीं हो सका।

अपनी दृष्टि एवं पद्धति पर प्रकाश डालते हुए ग्रियर्सन ने लिखा है कि उन्होंने सामग्री को यथासंभव कालक्रमानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ग्रंथ को कालखंडों में विभक्त किया गया है तथा प्रत्येक अध्याय कालविशेष का सूचक है। प्रत्येक काल के गौण कवियों का अध्यायविशेष के अंत में उल्लेख किया गया है। विभिन्न युगों की काव्य-प्रवृत्तियों की व्याख्या करते हुए उनसे संबंधित सांस्कृतिक परिस्थितियों और प्रेरणास्रोतों के भी उद्घाटन का प्रयास उनके द्वारा हुआ है। इसके अतिरिक्त हिंदी-साहित्य के विकास क्रम का निर्धारण चारण-काव्य, धार्मिक काव्य, प्रेम काव्य, दरबारी काव्य के रूप में करना

नोट

तथा सोलहवीं-सत्रहवीं सदी के युग को (भक्तिकाल को) हिंदी काव्य का स्वर्ण-युग मानना ग्रियर्सन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं जिन्हें किंचित् संशोधित एवं नूतन शब्दों में प्रस्तुत करके परवर्ती इतिहासकारों ने भारी श्रेय प्राप्त किया है। वस्तुत: उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण में, जबकि हिंदी साहित्य क्षेत्र में आलोचना एवं अनुसंधान की परंपराओं का श्रीगणेश भी न हुआ था, हिंदी भाषा एवं उसके काव्य की ऐसी स्पष्ट, सूक्ष्म एवं प्रामाणिक ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत कर देना ग्रियर्सन की अद्‌भुत प्रतिभा शक्ति एवं गहन अध्ययनशीलता को प्रमाणित करता है; यह दूसरी बात है कि उनका ग्रंथ अंग्रेज़ी में रचित होने के कारण हिंदी के अध्येताओं की दृष्टि का केंद्र नहीं बन सका जिससे परवर्ती युग के अनेक इतिहासकार, जो उनकी धारणाओं और स्थापनाओं को पल्लवित करके हिंदी-माध्यम से प्रस्तुत कर सके, उस यश के भागी बने जो वस्तुत: ग्रियर्सन का दाय था।

मिश्रबंधुओं द्वारा रचित 'मिश्रबंधु-विनोद' चार भागों में विभक्त है, जिसके प्रथम तीन भाग 1913 ई. में प्रकाशित हुए तथा चतुर्थ भाग 1934 ई. में प्रकाशित हुआ। मिश्र-बंधुओं ने अपने ग्रंथ को 'इतिहास' की संज्ञा न देते हुए भी भरसक इस बात का यत्न किया कि यह एक आदर्श इतिहास सिद्ध हो। इसे परिपूर्ण एवं सुव्यवस्थित बनाने के लिए उन्होंने एक ओर तो इसमें लगभग पांच हजार कवियों को स्थान दिया है तथा दूसरी ओर इसे आठ से भी अधिक कालखंडों में विभक्त किया है। इस क्षेत्र में उन्हें पूर्ववर्ती इतिहासकारों से अधिक सफलता मिली है। इतिहास के रूप में इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें कवियों के विवरणों के साथ-साथ साहित्य के विविध अंगों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है तथा अनेक अज्ञात कवियों को प्रकाश में लाते हुए उनके साहित्यिक महत्त्व को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। कवियों का सापेक्षिक महत्त्व निर्धारित करने के लिए उनकी श्रेणियाँ भी बनायी गई हैं। किंतु काव्य-समीक्षा में परंपरागत सिद्धांतों और पद्धति का ही अनुसरण मिलता है। अत: आधुनिक समीक्षा-दृष्टि से यह ग्रंथ भले ही बहुत संतोषजनक न कहा जा सके, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि इतिहास-लेखन की पूर्व-परंपरा को आगे बढ़ाने में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है, जैसा कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने स्वयं स्वीकार किया है: "कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्राय: 'मिश्रबंधु-विनोद से ही लिये हैं।" परवर्ती इतिहासकारों के लिए भी यह आधार-ग्रंथ रहा है।

हिंदी-साहित्येतिहास की परंपरा में सर्वोच्च स्थान **आचार्य रामचंद्र शुक्ल** द्वारा रचित 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' (1929) को प्राप्त है। जो मूलत: नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिंदी-शब्द-सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था तथा जिसे आगे परिवर्द्धित एवं विस्तृत करके स्वतंत्र पुस्तक का रूप दे दिया गया। इसके आरंभ में ही आचार्य शुक्ल ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उद्‌घोषित किया है: "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।" इस उदाहरण से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने साहित्येतिहास के प्रति एक निश्चित व सुस्पष्ट दृष्टिकोण का परिचय देते हुए युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य के विकास-क्रम की व्याख्या करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि उन्होंने साहित्येतिहास को साहित्यालोचन से पृथक् रूप में ग्रहण करते हुए विकासवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचय दिया। साथ ही उन्होंने इतिहास के मूल विषय को आरंभ करने से पूर्व ही 'काल-विभाग' के अंतर्गत हिंदी-साहित्य के 900 वर्षों के इतिहास को चार सुस्पष्ट कालखंडों में विभक्त करके अपनी योजना को एक ऐसे निश्चित रूप में प्रस्तुत कर दिया कि जिसमें पाठक के मन में शंका और संदेह के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता—यह दूसरी बात है कि उन्होंने काल-विभाजन का आधार न देकर केवल तत्संबंधी निष्कर्षों की ही सूचना दी है। किंतु, इससे उस युग के उन पाठकों को अवश्य लाभ हुआ जो काल-विभाजन की सूक्ष्मताओं के पचड़े में पड़े बिना ही संपूर्ण हिंदी-साहित्य को एक दृष्टि से देख लेना चाहते थे। नवोपलब्ध तथ्यों और निष्कर्षों के अनुसार अब यह काल-विभाजन त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो गया है, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि अपनी अति सरलता व स्पष्टता के कारण यह आज भी बहुप्रचलित और बहुमान्य है।

नोट

आचार्य शुक्ल के इतिहास की एक अन्य विशेषता है–पूरे भक्तिकाल को चार भागों या शाखाओं में बांटकर उसे शुद्ध दार्शनिक एवं धार्मिक आधार पर प्रतिष्ठित कर देना। उन्होंने इस काल के समस्त साहित्य को पहले निर्गुण-धारा और सगुण-धारा में और फिर प्रत्येक को दो-दो शाखाओं-ज्ञानाश्रयी शाखा व प्रेमाश्रयी शाखा तथा रामभक्तिशाखा व कृष्णभक्तिशाखा में विभक्त करके न केवल साहित्यिक आलोचकों के लिए, अपितु दार्शनिक तथा धार्मिक दृष्टि से साहित्यानुसंधान करने वालों के लिए भी एक अत्यंत सरल एवं सीधा मार्ग तैयार कर दिया।

इतिहासकार के रूप में आचार्य शुक्ल की सबसे बड़ी विशेषता है–कवियों और साहित्यकारों के जीवन-चरित संबंधी इतिवृत्त के स्थान पर उनकी रचनाओं के साहित्यिक मूल्यांकन को प्रमुखता देना। इस क्षेत्र में उन्होंने एक तो चुने हुए कवियों को ही लिया–जहाँ 'मिश्रबंधु-विनोद' में कवि संख्या पांच हजार तक पहुँच चुकी थी, वहाँ उन्होंने उनमें से लगभग एक हजार को ही अपने इतिहास में स्थान दिया; फिर उनके विवेचन में उनकी साहित्यिक महत्ता व लघुता का ध्यान रखते हुए उन्हें तदनुसार ही स्थान दिया। वस्तुतः इतिहास के इतने संक्षिप्त कलेवर में भी इतने कवियों का जैसा प्रामाणिक, सारगर्भित एवं सोदाहरण विवेचन वे प्रस्तुत कर पाये हैं, उससे इतिहासकार शुक्ल की महानता प्रमाणित होती है। इसी प्रकार विभिन्न काव्यधाराओं और युगों की साहित्यिक प्रवृत्तियों के निर्धारण में भी उन्हें असाधारण सफलता प्राप्त हुई है। रीतिग्रंथकारों के आचार्यत्व एवं कवित्व का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए उनकी उपलब्धियों तथा सीमाओं के संबंध में जो निर्णय आचार्य शुक्ल ने दिये, वे बहुत कुछ अंशों में आज भी मान्य हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी साहित्य-लेखन की परंपरा में आचार्य शुक्ल का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उनका इतिहास ही कदाचित् अपने विषय का पहला ग्रंथ है जिसमें अत्यंत सूक्ष्म एवं व्यापक दृष्टि, विकसित दृष्टिकोण, स्पष्ट विवेचन-विश्लेषण और प्रामाणिक निष्कर्षों का सन्निवेश मिलता है। किंतु फिर भी हमें यह न भूलना चाहिए कि उनके द्वारा इतिहास की रचना उस समय हुई थी जबकि हिंदी का अधिकांश प्राचीन साहित्य अज्ञात, लुप्त एवं अप्रकाशित अवस्था में पड़ा था तथा उसका प्रामाणिक अध्ययन-विश्लेषण नहीं हो पाया था। वस्तुतः इतिहासकार से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह इतिहास की सहस्राधिक रचनाओं का स्वयं ही अनुसंधान, अध्ययन, विश्लेषण करके उपलब्ध निष्कर्षों के आधार पर इतिहास की रचना करे, अपितु वह अन्य अनुसंधानकर्ताओं द्वारा उपलब्ध तथ्यों और निष्कर्षों के आलोक में अपना कार्य-संपादन करता है; यह दूसरी बात है कि उन तथ्यों और निष्कर्षों की ऐतिहासिक व्याख्या वह अपने ढंग से स्वतंत्र रूप में करता है। किंतु आचार्य शुक्ल के इतिहास-लेखन के समय तो हिंदी-अनुसंधान का आरंभ-मात्र ही हो पाया था–इस तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि सन् 1929 तक सारे हिंदी-जगत में लिखे गये शोध-प्रबंधों की संख्या तीन-चार से अधिक नहीं थी। ऐसी स्थिति में इतिहास के जिस पक्ष का संबंध उनकी स्वतंत्र चिन्तना एवं विवेचना-शक्ति से था, उसमें तो उन्हें सफलता मिली, किंतु जो पक्ष इतिहास की आधारभूत सामग्री से संबंध था, उसमें उन्हें अनुमान और कल्पना से काम लेना पड़ा, जिसका परिणाम यह हुआ कि इस पक्ष से संबंधित उनके अनेक निष्कर्ष अब अप्रामाणिक सिद्ध हो गये हैं। इससे उनके इतिहास में अनेक ऐसी त्रुटियों तथा असंगतियों का प्रादुर्भाव हो गया है, जो आज की स्थिति में उनके इतिहास के दुर्बल पक्ष को सूचित करती हैं। इसी प्रकार वीरगाथा काल में उल्लिखित रचनाओं के अस्तित्वहीन, अप्रामाणिक, परवर्ती या अन्य भाषा में रचित सिद्ध हो जाने के कारण भी यह काल आज अत्यंत विवादग्रस्त हो गया है। भक्तिकाल के नामकरण और वर्गीकरण में एक कठिनाई यह हो जाती है कि धर्मनिरपेक्ष दृष्टि से राजाश्रय एवं लोकाश्रय में काव्य-रचना करने वाले कवियों के लिए या रामकृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य अवतार या देवी-देवता की उपासना करने वाले भक्त कवि के लिए उसमें समुचित स्थान नहीं है। फिर भी, यह नामकरण और वर्गीकरण व्यावहारिक दृष्टि से सरल, सुगम एवं मान्य सिद्ध हुआ।

भक्तिकाल की ही भांति रीतिकाल में भी नामकरण, सीमा-निर्धारण, परंपराओं व काव्यधाराओं का वर्गीकरण वर्गविशेष के एकपक्षीय बोध का सूचक है जिससे इस काल के रीतिमुक्त प्रेममार्गी कवियों, वीर रसात्मक काव्यों के रचयिताओं तथा राजनीति एवं वैराग्य संबंधी मुक्तकों के रचयिता कवियों के साथ न्याय नहीं हो पाता। केशवदास-जैसे आचार्य कवि को 'अलंकारवादी' तथा परवर्ती रीतिकवियों को

नोट

'रसवादी' घोषित करते हुए उन्हें रीति-परंपरा के प्रवर्तक के पद से वंचित करना भी संगत प्रीतत नहीं होता, क्योंकि जहाँ एक ओर केशव ने 'रसिकप्रिया' में रस-सिद्धांत का सांगोपांग निरूपण किया है, वहाँ दूसरी ओर रीतिकवियों ने प्रायः अलंकारों पर भी ग्रंथ लिखे हैं। वास्तविकता यह है कि रीति-प्रतिपादन के क्षेत्र में इस काल के प्रायः सभी रीतिबद्ध कवियों ने न केवल केशवदास द्वारा प्रस्तुत विषयों का, अपितु उनकी प्रतिपादन-शैली का भी पूरी तरह अनुसरण किया है। ऐसी स्थिति में तथाकथित 'रीतिकाल' (या रीति-परंपरा) का प्रवर्तन केशव से ही मानना ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक होगा।

विभिन्न काव्यधाराओं तथा परंपराओं के मूल उत्सों और स्रोतों के यथार्थ अनुसंधान में शुक्ल जी का युगवादी दृष्टिकोण भी बाधक सिद्ध हुआ। उन्होंने साहित्यिक परंपराओं और प्रवृत्तियों को युगविशेष की चित्तवृत्ति के प्रतिबिंब के रूप में ही ग्रहण किया, उन तत्त्वों तथा स्रोतों की उपेक्षा की जिनका संबंध पूर्व-परंपरा से है। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने पूरे मध्यकाल की विभिन्न धाराओं और प्रवृत्तियों को तद्युगीन मुस्लिम प्रभाव की देन के रूप में स्वीकार कर लिया—जैसे, भक्ति आंदोलन तद्युगीन निराशा की देन है, संत-मत इस्लाम के एकेश्वरवाद के प्रभाव का सूचक है, प्रेमाख्यान-परंपरा सूफी मसनवियों से अनुकृत है, आदि। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन सब पर तद्युगीन वातावरण का भी आंशिक प्रभाव है, किंतु यही सबकुछ नहीं है; इनके विकास को सम्यक् रूप से स्पष्ट करने के लिए संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश की उन परंपराओं पर भी विचार करना आवश्यक था जो हिंदी की विभिन्न मध्यकालीन काव्यधाराओं के मूल में आधारभूत तत्त्व की भांति विद्यमान हैं। वस्तुतः संस्कृत-साहित्य की पौराणिक परंपराओं, प्राकृत-अपभ्रंश के प्रेमाख्यानों व मुक्तकों की धाराओं, सिद्धों व नाथपंथियों की गुह्य वाणियों की उपेक्षा करके मध्यकालीन हिंदीकाव्य की विभिन्न काव्यधाराओं के वर्तमान स्वरूप की आलोचना भले ही की जा सके, किंतु उसके आधार-स्रोतों का अनुसंधान और उनके विकास-क्रम की ऐतिहासिक व्याख्या संभव नहीं है।

आचार्य शुक्ल की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा एवं प्रौढ़ विवेचना-शक्ति के महत्त्व के समक्ष नतमस्तक होते हुए भी हमें यह कटु सत्य स्वीकार करना पड़ता है कि इतिहासकार शुक्ल की उपलब्धियां उसी सीमा तक ग्राह्य हैं जहाँ तक वे उनके आलोचक-रूप से संबंध हैं; किंतु जहाँ वे आलोचक से पृथक् होकर शुद्ध इतिहासकार के रूप में अवतरित होते हैं, वहीं उनकी अनेक सीमाएं स्पष्ट होने लगती हैं। अवश्य ही ये उनकी अपनी सीमाएँ न होकर इतिहास की सीमाएँ हैं, अर्थात् जिस काल-सीमा में उन्होंने कार्य किया था, उसमें कदाचित यह संभव नहीं था कि इतिहास को वह रूप दिया जा सकता जो परवर्ती अनुसंधान से उपलब्ध नूतन तथ्यों और निष्कर्षों के आलोक में संभव है। वस्तुतः उस युग की सीमित ज्ञानराशि को लेकर भी उन्होंने उसे जैसा रूप दिया, वह निश्चय ही उनके-जैसे व्यक्ति के लिए ही संभव था। इतिहास-लेखन की परंपरा में आचार्य शुक्ल का महत्त्व सदा अक्षुण्ण रहेगा, इसमें कोई संदेह नहीं।

आचार्य शुक्ल के इतिहास-लेखन के लगभग एक शताब्दी बाद **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** इस क्षेत्र में अवतरित हुए। उनकी 'हिंदी-साहित्य की भूमिका' क्रम और पद्धति की दृष्टि से इतिहास के रूप में प्रस्तुत नहीं है, किंतु उसमें प्रस्तुत विभिन्न स्वतंत्र लेखों में कुछ ऐसे तथ्यों और निष्कर्षों का प्रतिपादन किया गया है जो हिंदी-साहित्य के इतिहास-लेखन के लिए नयी दृष्टि, नयी सामग्री और नयी व्याख्या प्रदान करते हैं। जहाँ आचार्य शुक्ल की ऐतिहासिक दृष्टि 'युग की परिस्थितियों को प्रमुखता प्रदान करती थी, वहाँ आचार्य द्विवेदी ने परंपरा का महत्त्व प्रतिष्ठित करते हुए उन धारणाओं को खंडित किया जो युगीन प्रभाव के एकांगी दृष्टिकोण पर आधारित थीं। उन्होंने अत्यंत सशक्त स्वरों में उद्घोषित किया कि भक्ति-आंदोलन न तो तद्युगीन पराजित हिंदू जाति की निराशा से उद्वेलित है और न ही इस्लाम की प्रतिक्रिया है; इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि सातवीं-आठवीं शती में, जबकि भारत की धरती पर इस्लाम की छाया भी नहीं पड़ी थी, दक्षिण के वैष्णव भक्तों में भक्ति अपने पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान थी। इस प्रसंग में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस्लाम के प्रभाव का खंडन करते हुए लिखा है, "मैं इस्लाम के महत्त्व को भूल नहीं रहा हूँ, लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम न आया होता तो भी इस साहित्य का बाहर आना वैसा ही होता जैसा आज है।"

इसी प्रकार उन्होंने संत-काव्य-परंपरा के स्रोतों का अनुसंधान करते हुए सिद्धों और नाथपंथियों की वाणियों, विचार-सरणियों, पद्धतियों व काव्य-शैलियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट किया कि किस

प्रकार कबीर आदि इनसे प्रभावित हैं। वस्तुत: भाव, विचार, तर्क-पद्धति, भाषा शैली आदि के आधार पर उन्होंने सिद्ध किया कि हिंदी का संत-काव्य पूर्ववर्ती सिद्धों व नाथपंथियों के साहित्य का सहज विकसित रूप है, अत: उसे केवल इस्लाम पर आधारित मानने की आवश्यकता नहीं। हिंदी के प्रेमाख्यानों के भी मूल स्रोतों का अनुसंधान करते हुए उन्होंने प्रतिपादित किया है कि इनकी कथावस्तु, कथानक-रूढ़ियाँ, रचना-शैली, छंद-योजना आदि संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश की काव्य-परंपराओं पर आश्रित हैं।

नोट

मध्यकालीन हिंदी-काव्य के विविध स्रोतों के अनुसंधान के अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी ने संत-साहित्य और वैष्णव-भक्तिकाव्य के ऐतिहासिक मूल्यांकन के लिए नया दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया। शास्त्रीय परंपरा के संरक्षक महाकवि तुलसीदास के महत्त्व पर बल देते हुए प्राय: अनेक इतिहासकार संतों को अशिक्षित, असंस्कृत व अविकसित घोषित करके उनकी अवमानना करने का प्रयास करते हैं, जबकि आचार्य द्विवेदी ने वस्तुस्थिति की गहराई घोषित करते हुए लिखा है: "कभी-कभी हास्यास्पद भावे से कबीरदास को शास्त्र-ज्ञानहीन, सुनी-सुनायी बातों का गढ़ने वाला आदि कह दिया जाता है, मानो उस युग में जुलाहे, मोची, धुनिये और अन्यान्य नीची कही जाने वाली जातियों के लिए शास्त्र और वेद का दरवाजा खुला था और कबीरदास आदि ने जान-बूझकर उसकी अवहेलना की थी। सच पूछा जाए तो शास्त्र-ज्ञान तत्व-ज्ञान के मार्ग में सब समय सहायक ही नहीं होता; और कभी-कभी तो युग की तथोक्त नीच जातियों में से आये हुए महापुरुषों का शास्त्रीय तर्क-जाल से मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है।"

'हिंदी-साहित्य की भूमिका' के अनन्तर आचार्य द्विवेदी की इतिहास संबंधी कुछ और रचनाएँ भी प्रकाशित हुई हैं-'हिंदी-साहित्य : उद्भव और विकास', 'हिंदी-साहित्य का आदिकाल' आदि। इनमें उन्होंने अपने तद्विषयक विचारों को अधिक व्यवस्थित एवं पुष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी-साहित्य के इतिहास की-विशेषत: मध्यकालीन काव्य के स्रोतों व पूर्व-परंपराओं के अनुसंधान तथा उनकी अधिक सहानुभूति पूर्ण व यथातथ्य व्याख्या करने की-दृष्टि से आचार्य द्विवेदी का योगदान अप्रतिम है। वस्तुत: वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने आचार्य शुक्ल की अनेक धारणाओं और स्थापनाओं को चुनौती देते हुए उन्हें सबल प्रमाणों के आधार पर खंडित किया। साथ ही उनके युग-रुचिवादी एकांगी दृष्टिकोण के समानान्तर अपने परंपरापरक दृष्टिकोण को स्थापित करके उन्होंने हिंदी-साहित्य के अध्येताओं के लिए एक व्यापक एवं संतुलित इतिहास-दर्शन की भूमिका तैयार की। वैसे, वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाये तो किसी भी घटना, रचना या धारा की शुद्ध विकासवादी व्याख्या करने के लिए परंपरा और युग-स्थिति-दोनों पक्ष ही विचारणीय हैं। आचार्य द्विवेदी ने जहाँ परंपरा पर बल दिया, वहाँ आचार्य शुक्ल ने युग-स्थिति पर; अत: कहा जा सकता है कि दोनों के मत इस दृष्टि से एक-दूसरे के पूरक हैं।

जहाँ ऐतिहासिक चेतना व पूर्व परंपरा के बोध की बात है, निश्चय ही आचार्य द्विवेदी हिंदी के सबसे अधिक सशक्त इतिहासकार हैं। पूर्ववर्ती सांस्कृतिक धाराओं, सरणियों और पद्धतियों का जैसा गंभीर अनुशीलन उन्होंने किया तथा मध्यकालीन जनमानस की भाव-धाराओं में जैसी गहरी डुबकी उन्होंने लगायी है, वह किसी और के लिए संभव नहीं। किंतु फिर भी, उन्होंने अपना लक्ष्य आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित इतिहास के स्थूल ढांचे में ही अपनी धारणाओं को समेट देने तक का रखा है जबकि उसे आमूलचूल परिवर्तित कर देने की शक्ति का भी उनमें अभाव नहीं था। शुक्ल जी द्वारा स्थापित प्रथम तीन कालखंडों को बाह्य रूप व भीतरी आधारों की दृष्टि से पूर्णत: झकझोर देने के बाद भी उन्होंने उसे उन्मूलित कर देने का कार्य अपने हाथों से संपादित नहीं किया। शायद यह उनकी अहिंसक दृष्टि का परिणाम है कि वे पूर्व-व्यवस्था के सारे दोषों व अवगुणों का उद्घाटन करने के बाद भी अपनी ओर से उसमें परिवर्तन का कोई प्रयास नहीं करते। कदाचित यही कारण है कि उनके इतिहास की रूपरेखा, काल-विभाजन-पद्धति व काव्यधारा की नियोजना बहुत कुछ आचार्य शुक्ल के इतिहास के अनुरूप हैं।

आचार्य द्विवेदी के ही साथ-साथ इस क्षेत्र में अवतरित होनेवाले का अन्य विद्वान **डॉ. रामकुमार वर्मा** ने 'हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (1938) में 693 ई. से 1693 ई. तक की कालावधि को ही लिया है। संपूर्ण ग्रंथ को सात प्रकरणों में विभक्त करते हुए सामान्यत: रामचंद्र शुक्ल के ही वर्गीकरण का अनुसरण किया गया है। इतना अवश्य है कि युगों व धाराओं के नामकरण में किंचित परिवर्तन कर उन्हें सरल रूप दे दिया गया है, यथा-'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा', 'निर्गुण प्रेममार्गी (सूफ़ी) शाखा' जैसे

नोट

लंबे-लंबे नामों के स्थान पर 'संतकाव्य', 'प्रेमकाव्य' आदि का प्रयोग किया गया है जो अधिक सुविधाजनक है। 'वीरगाथा-काल' को 'चारणकाल' की संज्ञा देने के अतिरिक्त उससे पूर्व एक 'संधिकाल' और जोड़ दिया गया है। यद्यपि इस समय तक अपभ्रंश और हिंदी का भेद भलीभांति स्पष्ट हो चुका था तथा स्वयं डॉ. वर्मा ने भी दोनों को भिन्न-भिन्न माना है। फिर भी अपभ्रंश के सिद्ध, जैन व नाथपंथी कवियों की वाणी को हिंदी-साहित्य में स्थान देने का लोभ वे भी संवरण नहीं कर पाये। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयंभू को, जो कि अपभ्रंश के सबसे पहले कवि हैं, हिंदी का पहला कवि मानते हुए हिंदी-साहित्य का आरंभ 693 ई. से स्वीकार किया है। ऐतिहासिक व्याख्या की दृष्टि से यह इतिहास आचार्य शुक्ल के गुण-दोषों का ही विस्तार है, कवियों के मूल्यांकन में अवश्य लेखक ने अधिक सहृदयता और कलात्मकता का परिचय दिया है। अनेक कवियों के काव्य-सौंदर्य का आख्यान करते समय लेखक की लेखनी काव्यमय हो उठी है, जो कि डॉ. वर्मा के कवि-पक्ष का संकेत देती है। शैली की इसी सरसता और प्रवाहपूर्णता के कारण उनका इतिहास पर्याप्त लोकप्रिय हुआ है तथा पाठकों को इस बात का अभाव प्रायः खलता रहा है कि यह भक्तिकाल तक ही सीमित है, इसका शेष भाग अभी तक अलिखित है।

इधर **नागरी प्रचारिणी सभा** द्वारा भी 'हिंदी-साहित्य का बृहत इतिहास' प्रकाशित करने की विशाल योजना क्रियान्वित हो रही है, जिसके अंतर्गत समस्त हिंदी-साहित्य को सोलह भाषाओं में प्रस्तुत किया जायेगा। यद्यपि इस ग्रंथ के लेखन के लिए कुछ सामान्य सिद्धान्तों और पद्धतियों का निर्धारण कर लिया गया है, फिर भी प्रत्येक खंड अलग-अलग विद्वानों के संपादन में तथा विभिन्न लेखकों के सहयोग से निर्मित हो रहा है तथा संपूर्ण ग्रंथ के लेखन में शताधिक लेखकों का सहयोग अपेक्षित है; ऐसी स्थिति में इसकी उपलब्धियों और सीमाओं के बारे में सामान्य रूप में कुछ कहना कठिन है। वस्तुतः प्रत्येक खंड की सफलता-असफलता बहुत कुछ उसके संपादक व सहयोगी मंडल पर निर्भर है। इस दृष्टि से अब तक प्रकाशित खंडों में से कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं, यथा–इसका षष्ठ भाग (रीतिकाल : रीतिबद्ध काव्य) अपने विषय का सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। समग्र रूप में यह योजना हिंदी-साहित्येतिहास की बिखरी हुई सामग्री को सूत्रबद्ध कर सकेगी, इसमें संदेह नहीं। इतिहास के स्थूल ढांचे के रूप में इसमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास को ही किंचित संशोधित करके अपनाया गया है। अतः मूल ढांचे के गुण-दोष इसमें भी अधिक व्यापक, विस्तृत एवं सबल रूप में विद्यमान रहेंगे। यदि सभी क्षेत्रों के शताधिक लेखकों के स्वतंत्र सहयोग की अपेक्षा कुछ चुने हुए अधिकारी विद्वानों के सामूहिक योग से इसका निर्माण होता तो निस्संदेह इसमें अपेक्षाकृत अधिक एकरूपता, अन्विति एवं सजीवता आ पाती।

विभिन्न विद्वानों के सामूहिक सहयोग के आधार पर लिखित इतिहास-ग्रंथों में 'हिंदी-साहित्य' भी उल्लेखनीय है, जिसका संपादन **डॉ. धीरेंद्र वर्मा** ने किया है। इसमें संपूर्ण हिंदी-साहित्य को तीन कालों–आदिकाल, मध्यकाल एवं आधुनिककाल–में विभक्त करते हुए प्रत्येक काल की काव्य-परंपराओं का विवरण अविच्छिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। जहाँ नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा नियोजित इतिहास में आचार्य शुक्ल के इतिहास की रूपरेखा को अधिक ध्यान में रखा गया है, वहाँ इसमें यत्र-तत्र अधिक स्वतंत्रता से काम लिया गया है–यही कारण है कि इसमें हम 'रासोकाव्य-परंपरा' जैसी नयी काव्य-परंपराओं को भी स्थापित देखते हैं। पर साथ ही इसमें कुछ दोष भी हैं–विभिन्न अध्यायों में विभिन्न लेखकों ने इतिहास-लेखन की विभिन्न दृष्टियों और पद्धतियों का उपयोग किया है जिससे इसमें एकरूपता, अन्विति एवं संश्लेषण का अभाव परिलक्षित होता है। फिर भी, हिंदी-साहित्य की इतिहास-लेखन की परंपरा में इसका विशिष्ट स्थान है।

उपर्युक्त इतिहास-ग्रंथों के अतिरिक्त भी अनेक शोध-प्रबंध और समीक्षात्मक ग्रंथ लिखे गये हैं जो हिंदी-साहित्य के संपूर्ण इतिहास को तो नहीं, किंतु उसके किसी एक पक्ष, अंग या काल को नूतन ऐतिहासिक दृष्टि और नयी वस्तु प्रदान करते हैं। इन सबका विवेचन तो यहां संभव नहीं, किंतु इनका संकेत अवश्य किया जा सकता है, यथा–डॉ. भगीरथ मिश्र का 'हिंदी-काव्यशास्त्र का इतिहास', डॉ. नगेंद्र की 'रीतिकाव्य की भूमिका', श्री परशुराम चतुर्वेदी का 'उत्तरी भारत की संत-परंपरा', श्री प्रभुदयाल मीतल का 'चैतन्य-संप्रदाय और उसका साहित्य', डॉ. विजयेंद्र स्नातक का 'राधावल्लभ-संप्रदायः सिद्धांत और साहित्य', श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र का 'हिंदी–साहित्य का अतीत', श्री चंद्रकांत बाली का

'पंजाब-प्रान्तीय हिंदी-साहित्य का इतिहास', डॉ. टीकमसिंह तोमर का 'हिंदी-वीरकाव्य', डॉ. मोतीलाल मेनारिया-कृत 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' व 'राजस्थानी पिंगल साहित्य'; डॉ. केसरीनारायण शुक्ल, डॉ. श्रीकृष्णलाल और डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के आधुनिक काल संबंधी विभिन्न शोध-प्रबंध, डॉ. नलिनविलोचन शर्मा का 'साहित्य का इतिहास-दर्शन', डॉ. सियाराम तिवारी का 'मध्यकालीन खंडकाव्य', डॉ. सरला शुक्ल, डॉ. हरिकांत श्रीवास्तव, डॉ. ओमप्रकाश शर्मा प्रभृति के प्रेमाख्यानक काव्य संबंधी शोध-प्रबंध आदि ऐसे शताधिक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं जिनके द्वारा हिंदी-साहित्य के विभिन्न कालखंडों, काव्य-रूपों, काव्य-धाराओं, उपभाषाओं के साहित्य आदि पर प्रकाश पड़ता है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि इन शोध-प्रबंधों में उपलब्ध नूतन निष्कर्षों के आधार पर अद्यतन सामग्री का उपयोग करते हुए नये सिरे से हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखा जाये। ऐसा करने के लिए आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित ढांचे में आमूलचूल परिवर्तन करना पड़ेगा क्योंकि वह उस सामग्री पर आधारित है जो आज से 40-50 वर्ष पूर्व उपलब्ध थी, जबकि इस बीच बहुत-सी नयी सामग्री प्रकाश में आ गयी है। इस लक्ष्य की पूर्ति का एक प्रयास 'हिंदी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में हुआ है, जिसमें साहित्येतिहास के विकासवादी सिद्धांतों की प्रतिष्ठा करते हुए उनके आलोक में हिंदी-साहित्य की नूतन व्याख्या प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है।

नोट

इस प्रकार गार्सा द तॉसी से लेकर अब तक की परंपरा के संक्षिप्त सर्वेक्षण से यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि लगभग एक शताब्दी की ही अवधि में हिंदी-साहित्य का इतिहास-लेखन अनेक दृष्टियों, रूपों और पद्धतियों का आकलन और समन्वय करता हुआ संतोषजनक प्रगति कर गया है। इतना ही नहीं हमारे लेखकों ने न केवल विश्व-इतिहास-दर्शन के बहुमान्य सिद्धांतों और प्रयोगों को अंगीकृत किया है, अपितु उन्होंने ऐसे नये सिद्धांत भी प्रस्तुत किये हैं जिनका सम्यक् मूल्यांकन होने पर अन्य भाषाओं के इतिहासकार भी उनका अनुसरण कर सकते हैं।

4.8. हिंदी-साहित्येतिहास के आधार

अब उन स्रोतों व आधारों पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए जिनसे हिंदी-साहित्येतिहास के लेखन में सहायता ली जाती है। इन्हें हम पांच वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–(1) साहित्यकारों की प्रकाशित व अप्रकाशित रचनाएँ; (2) साहित्यकारों व साहित्यिक रचनाओं का परिचय प्रस्तुत करने वाली कृतियाँ; (3) साहित्य के विभिन्न अंगों, रूपों, धाराओं व प्रवृत्तियों की व्याख्या से संबंधित आलोचनात्मक व अनुसंधानपरक ग्रंथ; (4) प्राचीन साहित्यकारों के काल-निर्धारण व रचना-काल के निर्णय में योग देने वाली ऐतिहासिक सामग्री, जैसे–शिलालेख, वंशावलियां, प्रामाणिक उल्लेख आदि; (5) विभिन्न युगों की आंतरिक और बाह्य परिस्थितियों व स्थितियों पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री।

उपर्युक्त वर्गों पर यहाँ क्रमश: विचार किया जा सकता है। प्रथम वर्ग के अंतर्गत आनेवाली प्रकाशित रचनाओं की उपलब्धि तो विशेष कठिन नहीं है, किंतु अप्रकाशित सामग्री की उपलब्धि अवश्य दुष्कर है। नागरी प्रचारिणी सभा तथा अन्य कई साहित्यिक संस्थाएं इस कार्य में वर्षों से लगी हुई हैं और उनके द्वारा उपलब्ध रचनाओं का विवरण खोज-रिपोर्टों में प्रकाशित होता है। दुर्भाग्य से इस प्रकार की सहस्राधिक रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित पड़ी हैं। द्वितीय वर्ग की प्राचीन रचनाओं में 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'भक्तमाल', 'गुरुग्रंथ साहब' 'भक्त नामावली', 'कविमाला', 'कालिदास-हजारा', 'सत्कवि गिरा-विलास', 'कवि नामावली', 'राग सागरोद्भव–राग कल्पद्रुम', 'शृंगार-संग्रह' आदि उल्लेखनीय हैं। इनका रचना-काल सत्रहवीं शती से लेकर उन्नीसवीं शती के अंत तक का है तथा इनसे प्राचीन और मध्यकालीन कवियों और काव्यों के संबंध में विभिन्न तथ्यों का पता चलता है। जहाँ तक आधुनिक काल के साहित्य का परिचय देने वाले ग्रंथों की बात है, डॉ. माताप्रसाद गुप्त, डॉ. प्रेमनारायण टंडन व अन्य कई लेखकों द्वारा समकालीन लेखकों और उनकी रचनाओं के वृत्त-संग्रह निदेशिकाओं के रूप में प्रकाशित हुए हैं। जो इतिहास लेखक के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

नोट

4.9. सारांश (Summary)

- आज 'इतिहास' शब्द को इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है कि उसके अंतर्गत, अतीत की प्रत्येक स्थिति, परिस्थिति, घटना, प्रक्रिया एवं प्रवृत्ति की व्याख्या का समावेश हो जाता है। अत: संक्षेप में अतीत के किसी भी तथ्य, तत्व एवं प्रवृत्ति के वर्णन, विवरण, विवेचन, व विश्लेषण को–जो कि कालविशेष या कालक्रम की दृष्टि से किया गया हो–इतिहास कहा जा सकता है। लाक्षणिक अर्थ में 'इतिहास' का प्रयोग अतीत की घटनाओं के विवरण के स्थान पर स्वयं अतीतकालीन घटनाओं और व्यक्तियों के लिए भी होता है।
- साहित्य के इतिहास के लेखन कार्य में बाह्य साक्ष्य की अपेक्षा अंत:साक्ष्य अधिक विश्वसनीय और महत्त्वपूर्ण है क्योंकि एक समन्वित दृष्टिकोण संपन्न इतिहास लेखक अपनी विवेकमयी सारग्राहिण ी बुद्धि से उस सामग्री से ग्राह्य व प्रामाणिक उपादानों को ग्रहण करता है। एक श्रेष्ठ इतिहास लेखक सर्वदा "सार-सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय" के आदर्श का दृढ़ता से पालन करता है।
- इतिहास के अध्ययन में विभिन्न विद्वान विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों का प्रयोग करते रहे हैं तथा ये दृष्टिकोण भी समय-समय पर बदलते रहे हैं–इसी तथ्य के आधार पर 'इतिहास-दर्शन' विषय की स्थापना हुई है जिसमें इतिहास के संबंध में प्रयुक्त व प्रचलित विभिन्न दृष्टिकोणों धारणाओं व विचारों का अध्ययन किया जाता है। अस्तु, इतिहास संबंधी इन्हीं विचार या धारणाओं को समूह-रूप में 'इतिहास-दर्शन' की संज्ञा दी जाती है।
- भारत का प्राचीन इतिहासकार सत्य-शोधन तक ही सीमित नहीं रहा, वह 'शिव' और 'सुंदरम्' के समन्वय के लिए भी बराबर सचेष्ट रहा। इसे व्यावहारिक दृष्टि से जहाँ उसका 'गुण' कहा जा सकता है, वहाँ सैद्धान्तिक दृष्टि से यह उसका सबसे बड़ा 'दोष' भी माना जा सकता है, क्योंकि उसने इतिहास के कलेवर में कला और नीति को स्थान देकर उसे शुद्ध ऐतिहासिकता से वंचित रखा।
- जर्मन दार्शनिक कांत (1724-1804) ने इतिहास की नयी व्याख्या करते हुए प्रतिपादित किया कि सृष्टि का बाह्य विकास प्रकृति की आंतरिक विकास-प्रक्रिया का प्रतिबिम्ब-मात्र है, अत: इतिहास को भी इसी रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए, अर्थात् ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे प्राकृतिक नियमों की प्रवृत्ति को समझने का प्रयास किया जाना चाहिए।
- साहित्येतिहास की व्याख्या के लिए विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रयास होते रहे हैं जो हमें किसी निश्चित, स्पष्ट एवं समन्वित निष्कर्ष तक नहीं पहुँचाते, किंतु फिर भी इनसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि आज साहित्य का अध्ययन-विश्लेषण केवल साहित्य तक सीमित रहकर नहीं किया जा सकता; उसकी विषयगत प्रवृत्तियों व शैलीगत प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण के लिए उससे संबंधित राष्ट्रीय परंपराओं, सामाजिक वातावरण, आर्थिक परिस्थितियों, युगीन चेतना एवं साहित्यकार की वैयक्तिक प्रवृत्तियों का विवेचन-विश्लेषण आवश्यक है।
- सामान्यत: साहित्य के इतिहास में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का तथा साहित्यालोचन में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उपयोग किया जाता है तथा इस दृष्टि से ये दोनों एक-दूसरे के पूरक व सहयोगी सिद्ध होते हैं, किंतु फिर भी हमें इस भ्रान्ति से बचना चाहिए कि दोनों मूलत: एक ही हैं। इतिहास का लक्ष्य सदा अतीत की व्याख्या करते हुए विवेच्य वस्तु के विकास-क्रम को स्पष्ट करने का होता है जबकि आलोचना का लक्ष्य वस्तु के गुण-दोषों का अन्वेषण करते हुए उसका मूल्य निर्धारित करना होता है।
- हिंदी-साहित्येतिहास की परंपरा में सर्वोच्च स्थान आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा रचित 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' (1929) को प्राप्त है। जो मूलत: नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिंदी-शब्द-सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था तथा जिसे आगे परिवर्द्धित एवं विस्तृत करके स्वतंत्र पुस्तक का रूप दे दिया गया।

नोट

- मध्यकालीन हिंदी-काव्य के विविध स्रोतों के अनुसंधान के अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी ने संत-साहित्य और वैष्णव-भक्तिकाव्य के ऐतिहासिक मूल्यांकन के लिए नया दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया। शास्त्रीय परंपरा के संरक्षक महाकवि तुलसीदास के महत्त्व पर बल देते हुए प्राय: अनेक इतिहासकार संतों को अशिक्षित, असंस्कृत व अविकसित घोषित करके उनकी अवमानना करने का प्रयास करते हैं, जबकि आचार्य द्विवेदी ने वस्तुस्थिति की गहराई घोषित करते हुए लिखा है: "कभी-कभी हास्यास्पद भावे से कबीरदास को शास्त्र-ज्ञानहीन, सुनी-सुनायी बातों का गढ़ने वाला आदि कह दिया जाता है, मानो उस युग में जुलाहे, मोची, धुनिये और अन्यान्य नीची कही जाने वाली जातियों के लिए शास्त्र और वेद का दरवाजा खुला था और कबीरदास आदि ने जान-बूझकर उसकी अवहेलना की थी। सच पूछा जाए तो शास्त्र-ज्ञान तत्व-ज्ञान के मार्ग में सब समय सहायक ही नहीं होता; और कभी-कभी तो युग की तथोक्त नीच जातियों में से आये हुए महापुरुषों का शास्त्रीय तर्क-जाल से मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है।"

4.10. शब्दकोश (Keywords)

शताधिक – सौ से अधिक
अतीत – बीता हुआ, भूतकाल
मूल्यांकन – मूल्य का अनुमान करना गुण-दोष व लाभ-हानि के आधार पर आकलन

4.11. अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. हिंदी साहित्य के इतिहास का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. 'इतिहास-दर्शन' की रूपरेखा का विश्लेषण कीजिए।
3. हिंदी-साहित्येतिहास की परंपरा का उल्लेख कीजिए।
4. हिंदी-साहित्येतिहास के आधार को कितने वर्गों में विभाजित किया गया है? वर्णन कीजिए।
5. **रिक्त स्थानों की पूर्ति करें** (Fill in the blanks) :
   1. टाड रचित ..... में राजस्थान के चारण कवियों की चर्चा है।
   2. नाभादास द्वारा रचित काव्य ..... हैं।
   3. गोकुलनाथ द्वारा रचित ..... है।
   4. 'गुरु ग्रंथ साहब' में कबीर, रैदास और ..... का संग्रह है।
6. **बहुविकल्पीय प्रश्न** (Multiple Choice Questions) :
   1. तॉसी की परंपरा को आगे बढ़ाने का श्रेय है–
      (क) शिवसिंह सेंगर (ख) डॉ. ओमप्रकाश शर्मा
      (ग) डॉ. श्रीकृष्णलाल (घ) आचार्य शुक्ल
   2. 'कालिदास हजारा' में ..... कवियों की एक हजार कविताओं का संग्रह है।
      (क) 292 (ख) 392
      (ग) 492 (घ) 592
   3. 'विद्वान मोदतरंगिणी' में ..... का काव्य-संग्रह है।
      (क) 5 कवियों (ख) 15 कवियों
      (ग) दो कवियों (घ) तीन कवियों
   4. 'रस चंद्रोदय' में ..... कवियों की कविताओं का संकलन है।
      (क) 240 (ख) 242
      (ग) 350 (घ) 352

4.12. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

नोट

पुस्तकें

1. हिंदी भाषा का उदभव और विकास – गुणानंद जुयाल
2. हिंदी भाषा – कैलास चंद्र भाटिया
3. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य – बेचन
4. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – राजकुमार वर्मा

इकाई-3
(Unit-3)

नोट

5. आदिकाल की सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि

रूपरेखा

5.1 उद्देश्य (Objectives)
5.2 प्रस्तावना (Introduction)
5.3 आदिकालीन साहित्य: परिस्थितियाँ
  5.1.1 राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ
  5.1.2 सामाजिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ
5.7 सारांश (Summary)
5.8 शब्दकोश (Keywords)
5.9 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
5.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

5.1. उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- आदिकालीन साहित्य की परिस्थितियाँ जानने में।
- आदिकाल की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ जानने में।
- आदिकाल की सामाजिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों को समझने में।

5.2. प्रस्तावना (Introduction)

साहित्य मानव-समाज के विविध भावों एवं नित नवीन रहने वाली चेतना की अभिव्यक्ति है। किसी काल विशेष के साहित्य की जानकारी से तद्युगीन मानव-समाज को समग्रत: जाना जा सकता है। दूसरे शब्दों में, किसी काल विशेष के साहित्य में पाई जाने वाली प्रवृत्तियाँ तत्कालीन परिस्थितियों के सापेक्ष होती हैं। यह सिद्धांत इस बात की आवश्यकता पर बल देता है कि साहित्य के प्रेरक तत्व के रूप में हम युगीन परिवेश को अवश्य जान लें। आदिकालीन साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है।

5.3. आदिकालीन साहित्य : परिस्थितियाँ

इस काल के साहित्य में जो प्रमुख विशेषताएँ उपलब्ध हो रही हैं, वे तद्युगीन परिस्थितियों से विकसित हुई हैं, अत: आदिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों से परिचित होने से पूर्व कारण, स्वरूप, तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों का आकलन कर लेना चाहिए। इस काल की विभिन्न परिस्थितियों का आकलन निम्न शीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है।

5.1.1 राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ

नोट

1. **राजनीतिक परिस्थितियाँ**–राजनीतिक दृष्टि से यह युद्ध और अशांति का काल था। सम्राट हर्षवर्द्धन की मृत्यु (संवत् 704 वि.) के उपरांत उत्तर भारत खंड-खंड राज्यों में विभक्त हो गया था। गहरवार, परमार, चौहान और चंदेल वंशों के राजपूत राजाओं ने अपने-अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिए थे। राजपूत राजा निरंतर युद्धों की आग में जलते-जलते अंततः शक्तिक्षीण हो गए थे और विदेशी आक्रांताओं का डटकर मुकाबला करने की स्थिति में नहीं रह गए थे। राजपूत शासकों में परस्पर युद्ध किसी आवश्यकतावश नहीं होते थे, कभी-कभी तो शौर्य प्रदर्शन मात्र के लिए भी युद्ध किए जाते थे।

   भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर विदेशी आक्रमणों का भय बराबर बना रहता था। 10वीं शताब्दी में महमूद गजनवी ने और 12वीं शती में मुहम्मद गोरी ने भारत को पदाक्रांत किया। जनता विदेशी आक्रमणकारियों से तो त्रस्त थी ही, साथ ही युद्धकामी देशी राजाओं के अत्याचारों को भी सहन करने को विवश थी। यवन शक्तियों के आक्रमण का प्रभाव मुख्यतः पश्चिम एवं मध्य देश पर ही पड़ा, इन्हीं क्षेत्रों की जनता युद्धों एवं अत्याचारों से आक्रांत हुई। धीरे-धीरे समस्त हिंदी प्रदेश में स्थित राज्यों–दिल्ली, कन्नौज, अजमेर आदि पर मुसलमानों का अधिकार हो गया।

   राजनीतिक परिस्थितियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 8वीं शती से 14वीं शती तक का यह काल खंड युद्ध, संघर्ष एवं अशांति से ग्रस्त रहा। राजाओं में संकुचित राष्ट्रीयता थी। व्यापक रूप से समूचे भारत को एक राष्ट्र के रूप में नहीं देखा गया। अराजकता, गृह-कलह, विद्रोह एवं युद्ध के इस वातावरण में कवियों ने एक ओर तो तलवार के गीत गाए तो दूसरी ओर आध्यात्मिकता की प्रवृत्ति के कारण हठयोग, उपदेशवृत्ति एवं आध्यात्मिकता की बात कही गई।

2. **धार्मिक परिस्थिति**–इस काल में अनेक प्रकार के धार्मिक मत-मतांतरों का अस्तित्व था। भारतीय धर्म साधना में उथल-पुथल मची हुई थी। वैदिक एवं पौराणिक धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म भी इस काल में अपना प्रभाव जमाने के लिए प्रयासरत थे। राजपूत राजा अहिंसामूलक जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म में विश्वास नहीं करते थे। उन पर शैव मत का प्रभाव अधिक था। गाहड़वार राजा स्मार्त मतावलंबी थे। मालवा नरेश वैदिक धर्म के अनुयायी थे तथा कलचुरी नरेश शैव धर्मावलंबी थे। वस्तुतः समस्त उत्तर भारत में धीरे-धीरे शैव मत बौद्धों एवं स्मार्तों के प्रभाव को ग्रहण करता हुआ एक नए रूप नाथ संप्रदाय के रूप में विकसित हो रहा था।

आदिकाल में धार्मिक दृष्टि से तीन संप्रदायों का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है–सिद्ध संप्रदाय, नाथ संप्रदाय एवं जैन संप्रदाय। बौद्ध धर्म कालांतर में विकृत होकर वज्रयान बन गया था। इन वज्रयानियों को ही सिद्ध कहते थे। धर्म की यह विकृत अवस्था थी। धर्म के वास्तविक आदर्शों के स्थान पर आचारविहीनता, चमत्कार प्रदर्शन एवं भोग विलास को प्रमुखता मिल गई थी। सिद्धों का प्रभाव निम्न वर्ग की अशिक्षित जनता पर अधिक था। वे तंत्र-मंत्र, जादू-टोना एवं चमत्कार प्रदर्शन द्वारा सामान्य जनता में अपना प्रभाव जमा रहे थे।

भारत के पश्चिमी प्रदेशों विशेषकर गुजरात में जैन-मत का बहुत अधिक प्रचार था। जैन मुनि धार्मिक तत्वों का निरूपण अपभ्रंश भाषा में कर रहे थे। स्वयंभू, पुष्पदंत, हेमचंद्र, धनपाल जैसे अनेक कवियों ने अपनी रचनाएँ जैन राजाओं के संरक्षण में लिखीं। बौद्ध धर्म की विकृति का प्रभाव जैन धर्म पर पड़ रहा था और यह भी अपने आदर्शों से दूर हट रहा था।

बौद्ध और जैन धर्म में आई विकृति से वैदिक एवं पौराणिक धर्म में भी विकृति आ गई थी। वैष्णवों के पंचरात्र, शैवों के पाशुपत और शाक्यों के त्रिपुर-सुंदरी संप्रदायों में बौद्ध धर्म की पूजा पद्धति एवं वामाचार का प्रभाव परिलक्षित हो रहा था। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इस काल में विभिन्न धर्मों के मूलभूत आधार लुप्त हो चले थे और उनमें विकृतियों का समावेश हो गया था। जनता

के समक्ष अनेक धार्मिक राहें बनती जा रही थीं। देशव्यापी इस धार्मिक अशांति के समय इस्लाम धर्म भी भारत के द्वार खटखटा रहा था। यद्यपि भारत में मुसलमानों का आगमन हो चुका था, किंतु इसका धर्म अभी अपने जड़ें नहीं जमा पाया था।

इन धार्मिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में यह कहना समीचीन है कि धार्मिक दृष्टि से आदिकाल का वातावरण अत्यंत दूषित था। जनता असंतोष, क्षोभ एवं भ्रम से ग्रस्त थी। आदिकालीन साहित्य में इसी मानसिकता के अनुरूप खंडन-मंडन, हठयोग, वीरता एवं शृँगारपरक रचनाओं को देखा जा सकता है।

5.1.2 सामाजिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

1. **सामाजिक परिस्थिति**–राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के कारण समाज में विशृंखलता आ गई थी। जनता शासन तथा धर्म दोनों ओर से निराश्रित होती जा रही थी। सामान्य जनता अशिक्षित थी, जो साधु संन्यासियों के शापों और वरदानों की ओर दृष्टि लगाए रहती थी। पूजा-पाठ, तंत्र-मंत्र और जप-तप करके लोग दुर्भिक्ष महामारी एवं युद्ध के संकटों को टालना चाहते थे। ब्राह्मणों के प्रति पूज्यभाव में कमी आ गई थी तथा वर्ण-व्यवस्था के प्रति लोगों का सम्मान नहीं रह गया था। निम्न समझी जानेवाली जातियों में से अनेक 'सिद्ध' हो जाते थे, जो वेद विरोधी थे। समाज में क्षत्रियों का प्राधान्य था। राजपूतों में शौर्य तो था परंतु वे उसका उपयोग पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा एवं संघर्ष में ही करते थे। वे वंशगौरव एवं अभिमान को लेकर गृह-कलह में ही उलझे रहते थे।

   समाज में स्त्रियों के प्रति पूज्यभाव नहीं था, वे मात्र भोग्या बनकर रह गई थीं। सती प्रथा इस काल का एक भयंकर कोढ़ था। तत्कालीन भारत में स्वयंवर प्रथा भी थी, जो प्रायः युद्ध का कारण बन जाती थी। सुंदर राजकुमारियों से बलपूर्वक विवाह करने के लिए राजपूतों में युद्ध छिड़ जाना एक सामान्य बात हो गई थी। राजा और सामंत अंतःमुखी रंगरेलियों में व्यस्त रहते थे।

   जीवन-यापन के साधन दुर्लभ थे तथा निर्धनता, युद्ध, अशांति के कारण जनता सदैव आतंकित रहती थी। तत्कालीन रासो काव्यों में समाज की इस ह्रासोन्मुख स्थिति का पूरा-पूरा चित्र उपलब्ध होता है।

2. **साहित्यिक परिस्थिति**–आदिकाल में साहित्य रचना की तीन धाराएँ बह रही थीं। एक ओर तो परंपरागत संस्कृत साहित्य की रचना हो रही थी, तो दूसरी ओर प्राकृत अपभ्रंश भाषा में प्रभूत साहित्य का सृजन, जैसे कवियों के द्वारा किया जा रहा था। तीसरी धारा हिंदी में लिखे जाने वाले साहित्य की थी।

   इस काल में संस्कृत साहित्य के अंतर्गत पुराणों एवं स्मृतियों पर टीकाएँ लिखी गईं तथा ज्योतिष एवं काव्यशास्त्र पर अनेक मौलिक ग्रंथों की रचना की गईं। 9वीं से 11वीं शती तक कन्नौज एवं कश्मीर संस्कृत साहित्य के केंद्र रहे हैं। आनंदवर्द्धन, मम्मट, भोज, क्षेमेंद्र, कुंतक, राजशेखकर, विश्वनाथ, भवभूति एवं श्रीहर्ष जैसी प्रतिभाएँ इसी युग की देन हैं।

   इस काल में अपभ्रंश प्रमुखतः धर्म की भाषा बन गई थी। जैन कवियों ने गुजरात में रहकर अनेक पुराणों को अपभ्रंश में नए रूपों में प्रस्तुत किया। स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल, हेमचंद्र जैसे जैन कवियों ने जो साहित्य प्रस्तुत किया है, वह अपनी मौलिकता एवं साहित्यिक के कारण उच्चकोटि का है।

   देशभाषा हिंदी में भी जनता की मानसिक एवं भावात्मक दशाओं की अभिव्यक्ति एक वर्ग कर रहा था जिसे भाट या चारण कवि कहा गया। चारण कवियों की सामयिक आवश्यकता पर बल देते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है, ''उस समय तो जो भाट या चारण किसी राजा के पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या-हरण का अत्युक्ति पूर्ण आलाप करता या रणक्षेत्रों में जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगें भरा करता था, वही सम्मान पाता था।'' निरंतर युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने वाले एक वर्ग की आवश्यकता थी। चारण इसी श्रेणी के कवि थे। जिस प्रकार योरोप में वीरगाथाओं का विषय युद्ध और प्रेम रहा है, उसी प्रकार इन रचनाओं

नोट

में भी वीर एवं श्रृंगार रसों की प्रधानता रही है। हिंदी भाषा में रचित इन काव्य ग्रंथों में एक ओर अपने आश्रयदाताओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की गई है तो दूसरी ओर उनके युद्धोन्माद को व्यक्त करने वाली घटनाओं की योजना भी की गई है।

3. **सांस्कृतिक परिस्थिति**–सम्राट हर्षवर्द्धन के समय भारत सांस्कृतिक दृष्टि से अपने शिखर पर था हिंदू धर्म एवं संस्कृति राष्ट्रव्यापी एकता का आधार था। किंतु कालांतर में मुस्लिम आक्रमणकारियों ने अपने संकीर्ण दृष्टिकोण एवं धर्मान्धता की भावना से प्रेरित होकर भारतीय संस्कृतिक के मूल केंद्रों मंदिरों, मठों एवं विद्यालयों को नष्ट करने का पूरा-पूरा प्रयास किया।

   हिंदुओं की स्थापत्य कला धार्मिक भावना से ओतप्रोत थी तथा अत्यंत उच्चकोटि की थी। प्रसिद्ध इतिहासकार **अलबरूनी** के अनुसार, ''हिंदू कला के अत्यंत उच्च सोपान पर पहुँच चुके हैं। मुसलमान जब उनके मंदिर आदि को देखते हैं तो आश्चर्य चकित हो जाते हैं। वे न तो उनका वर्णन कर सकते हैं और न वैसा निर्माण ही कर सकते हैं।'' संपूर्ण भारत में ऐसे अनेक मंदिरों का निर्माण आदिकाल में ही हुआ–आबू का जैन मंदिर, खजुराहों का कंदर्पेश्वर, पुरी, भुवनेश्वर, वेलोर, कांची आदि के मंदिर इसी काल की देन है।

   मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव आदिकालीन हिंदू संस्कृति पर अनेक क्षेत्रों में पड़ने लगा था। उत्सव, मेले, परिधान, आहार, मनोरंजन आदि अनेक बातों में मुस्लिम रंग चढ़ने लगा था। दूसरी ओर हिंदू संगीतकला, वास्तुकला, आयुर्वेद एवं गणित का प्रभाव मुस्लिम संस्कृति पर पड़ने लगा। यह निष्कर्ष निकाल लेना इस दशा में असंगत न होगा कि आदिकालीन भारतीय संस्कृति परंपरा से विच्छिन्न होकर मुस्लिम संस्कृति के गहरे प्रभाव को स्वीकार करती जा रही थी।

   संगीत के क्षेत्र में दोनों संस्कृतियों ने परस्पर आदान-प्रदान पर्याप्त मात्रा में किया है। गायन-वादन और नृत्य पर मुस्लिम प्रभाव पड़ रहा था तथा अनेक वाद्ययंत्रों सारंगी, तबला, अलगोजा से हिंदू परिचित हो रहे थे। आदिकालीन भारतीय संस्कृति निश्चित रूप से ह्रासोन्मुख थी।

5.4. सारांश (Summary)

- राजनीतिक परिस्थितियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 8वीं शती से 14वीं शती तक का यह काल खंड युद्ध, संघर्ष एवं अशांति से ग्रस्त रहा। राजाओं में संकुचित राष्ट्रीयता थी। व्यापक रूप से समूचे भारत को एक राष्ट्र के रूप में नहीं देखा गया। अराजकता, गृह-कलह, विद्रोह एवं युद्ध के इस वातावरण में कवियों ने एक ओर तो तलवार के गीत गाए तो दूसरी ओर आध्यात्मिकता की प्रवृत्ति के कारण हठयोग, उपदेशवृत्ति एवं आध्यात्मिकता की बात कही गई।
- इन धार्मिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में यह कहना समीचीन है कि धार्मिक दृष्टि से आदिकाल का वातावरण अत्यंत दूषित था। जनता असंतोष, क्षोभ एवं भ्रम से ग्रस्त थी। आदिकालीन साहित्य में इसी मानसिकता के अनुरूप खंडन-मंडन, हठयोग, वीरता एवं श्रृँगारपरक रचनाओं को देखा जा सकता है।
- संगीत के क्षेत्र में दोनों संस्कृतियों ने परस्पर आदान-प्रदान पर्याप्त मात्रा में किया है। गायन-वादन और नृत्य पर मुस्लिम प्रभाव पड़ रहा था तथा अनेक वाद्ययंत्रों सारंगी, तबला, अलगोजा से हिंदू परिचित हो रहे थे। आदिकालीन भारतीय संस्कृति निश्चित रूप से ह्रासोन्मुख थी।

5.5. शब्दकोश (Keywords)

1. **विविध**–विभिन्न प्रकार का
2. **बलपूर्वक**–जबरदस्ती, ताकत के बल पर
3. **भावात्मक**–जज़बाती होना, भावुक होना

5.6. अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. आदिकाल में राजनीतिक और धार्मिक परिस्थिति का उल्लेख कीजिए।
2. आदिकाल में सामाजिक, साहित्यिक परिस्थिति का वर्णन कीजिए।
3. सांस्कृतिक परिस्थिति पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
4. आदिकालीन साहित्य से क्या तात्पर्य है? विभिन्न परिस्थितियों का वर्णन करें।
5. **रिक्त स्थान भरें।**
   1. ..... से समूचे भारत को एक राष्ट्र के रूप में नहीं देखा गया।
   2. मालवा नरेश वैदिक धर्म के अनुयायी थे तथा कलचुरी नरेश शैव ..... थे।
   3. जनता के समक्ष अनेक धार्मिक ..... बनती जा रही थीं।
6. **बहुविकल्पीय प्रश्न–**
   1. पूजा-पाठ, तंत्र-मंत्र और जप-तप करके लोग दुर्भिक्ष महामारी एवं युद्ध के ..... को टालना चाहते थे।
      (क) परिणाम (ख) स्वपनों
      (ग) संकटों (घ) या उपरोक्त में से कोई नहीं
   2. ..... से ..... शदी तक कन्नौज एवं कश्मीर संस्कृत साहित्य के केंद्र रहे हैं।
      (क) 9वीं/11वीं (ख) 10वीं/15वीं
      (ग) 5वीं/7वीं (घ) 18वीं/20वीं
   3. हिंदी भाषा में रचित इन काव्य ग्रंथों में एक ओर अपने आश्रय दाताओं की अतिशयोक्तिपूर्ण ..... की गई है।
      (क) अनुकम्पा (ख) प्रशंसा
      (ग) व्याख्या (घ) या उपरोक्त में से कोई नहीं
7. **निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य बताएँ–**
   1. हिंदू धर्म एवं संस्कृति राष्ट्रव्यायी एकता का आधार था।
   2. मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव आदिकालीन हिंदू संस्कृति पर अनेक क्षेत्रों में नहीं पड़ने लगा था।
   3. आदिकालीन भारतीय संस्कृति निश्चित रूप से ह्रासोन्मुख थी।

5.7. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें
1. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – राजकुमार वर्मा
2. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य – बेचन
3. हिंदी भाषा का उदभव और विकास – गुणानंद जुयाल
4. हिंदी भाषा – कैलास चंद्र भाटिया

6. प्रमुख युग–प्रसूतियाँ : विशिष्ट रचनाकार एवं उनकी प्रतिनिधि कृतियाँ

नोट

रूपरेखा

6.1 उद्देश्य (Objectives)
6.2 प्रस्तावना (Introduction)
6.3 अमीर खुसरो की कृतियाँ
  6.3.1 अमीर खुसरो की कृतियों के उदाहरण
6.4 चंदबरदाई–जीवन परिचय
  6.4.4 चंदबरदाई की कविता
6.5 विद्यापति–परिचय
  6.5.1 प्रमुख रचनाएँ
  6.5.2 विद्यापति की कविता
6.6 अब्दुल रहीम–परिचय
  6.6.1 रहीम के दोहे
6.7 सारांश (Summary)
6.8 शब्दकोश (Keywords)
6.9 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
6.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

6.1. उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- अमीर खुसरो की कृतियों से परिचित होंगे।
- विद्यापति और चंदबरदाई की कविता को समझने में।

6.2. प्रस्तावना (Introduction)

खुसरो को हिंदी खड़ीबोली का पहला लोकप्रिय कवि माना जाता है। अमीर खुसरो खड़ी बोली हिंदी के प्रथम कवि हैं। वे अपनी पहेलियों और मुकरियों के लिए जाने जाते हैं। सबसे पहले उन्हीं ने हिंदी भाषा (हिन्दवी) का उल्लेख किया था। वे फारसी के कवि भी थे। उनको दिल्ली सल्तनत का आश्रय मिला हुआ था। उनके ग्रंथों की सूची लंबी है। साथ ही इनका इतिहास स्रोत के रूप में महत्त्व है।

मध्य एशिया की लाचन जाति के तुर्क सैफुद्दीन के पुत्र अमीर खुसरो का जन्म सन् (652 हि.) में एटा उत्तर प्रदेश के पटियाली नामक कस्बे में हुआ था। लाचन जाति के तुर्क चंगेज खाँ के आक्रमणों से पीड़ित होकर बलबन (1266–1286 ई.) के राज्यकाल में शरणार्थी के रूप में भारत में आ बसे थे। खुसरो की माँ बलबन के युद्धमंत्री इमादुतुल मुलक की लड़की, एक भारतीय मुसलमान महिला थी। सात वर्ष की अवस्था में खुसरो के पिता का देहांत हो गया। किशोरावस्था में उन्होंने कविता लिखना प्रारंभ किया और 20 वर्ष के होते-होते वे कवि के रूप में प्रसिद्ध हो गए। खुसरो में व्यावहारिक बुद्धि की कमी

नहीं थी। सामाजिक जीवन की खुसरो ने कभी अवहेलना नहीं की। खुसरो ने अपना सारा जीवन राज्याश्रय में ही बिताया। राजदरबार में रहते हुए भी खुसरो हमेशा कवि, कलाकार, संगीतज्ञ और सैनिक ही बने रहे।

6.3. अमीर खुसरो की कृतियाँ

नोट

अमीर खुसरो ने फारसी कवि निजामी गंजवी के खम्स के जवाब में अपना *पंचगंज* 698 हिजरी से 701 हिजरी के बीच लिखा यानि सन् 1298 ई. से 1301 ई. तक। इसमें पाँच मसनवियाँ हैं। इन्हें खुसरो की पंचपदी भी कहते हैं। ये इस प्रकार हैं–

1. **मतला-उल-अनवार**–निजामी के मखजनुल असरार का जवाब है। (698 हि./सन् 1298 ई.) अर्थात् रोशनी निकलने की जगह। उम्र 45 कवि जामी ने इसी के अनुकरण पर अपना 'तोहफतुल अबरार' (अच्छे लोगों का तोहफा) लिखा था। इसमें खुसरो ने अपनी इकलौती लड़की को सीख दी है जो बहुत सुंदर थी। विवाह के पश्चात् जब बेटी विदा होने लगी तो खुसरो ने उसे उपदेश दिया था–खबरदार चर्खा कातना कभी न छोड़ना। झरोखे के पास बैठकर इधर-उधर न झाँकना।
2. **शीरी व खुसरो**–यह कवि निजामी की खुसरो व शीरी का जवाब है। यह 698 हिजरी/सन् 1298 ई., उम्र 45 वर्ष में लिखी गई। खुसरो ने इसमें प्रेम की पीर को तीव्रतर बना दिया है। इसमें बड़े बेटे को सीख दी है। इस रोमांटिक अभिव्यक्ति में भावात्मक तन्मयता की प्रधानता है। मुल्ला अब्दुल कादिर बादयूनी, फैजी लिखते हैं कि ऐसी मसनवी इन तीन सौ वर्षों में अन्य किसी ने नहीं लिखी। डॉ. असद अली के अनुसार यह रचना अब उपलब्ध नहीं तथा इसकी खोज की जानी चाहिए।
3. **मजनूँ व लैला**–निजामी के लैला-मजनूँ का जवाब 699 हिजरी, सन् 1299 ई. उम्र 46 वर्ष। प्रेम तथा श्रृंगार की भावनाओं का चित्रण। इसमें 2660 पद हैं। लैला-मजनूँ का प्रत्येक शेर गागर में सागर के समान है। यह पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। कुछ विद्वान इसका काल 698 हिजरी भी मानते हैं। कलात्मक दृष्टि से जो विशेषताएँ 'मजनूँ व लैला' में पाई जाती हैं, वे और किसी मसनवी में नहीं हैं। शैय्या पर फँस जाना, लैला की बीमारी का समाचार सुनकर मजनूँ का उसके पुर्से को आना और उसकी अर्थी देखना, मजनूँ का मस्त होकर गीत गाना, लैला के अंतिम संस्कार के समय मजनूँ का दम तोड़ देना और साथ ही दफन होना।
4. **आइने-सिकंदरी या सिकंदर नामा**–निजामी के सिकंदरनामा का जवाब (699 हिजरी/सन् 1299 ई.) इसमें सिकंदरे आजम और खाकाने चीन की लड़ाई का वर्णन है। इसमें अमीर खुसरो ने अपने छोटे लड़के को सीख दी है। इसमें रोजी-रोटी कमाने व कुवते बाजू की रोटी को प्राथमिकता, हुनर (कला) सीखने, मजहब की पाबंदी करने और सच बोलने की वह तरकीब है जो उन्होंने अपने बड़े बेटे को अपनी मसनवी शीरी खुसरो में दी है। इस रचना के द्वारा खुसरो यह दिखाना चाहते थे कि वे भी निजामी की तरह वीर रस प्रधान मसनवी लिख सकते हैं।
5. **हशव-बहिश्त**–निजामी के हफ्त पैकर का जवाब (701 हिजरी/सन् 1301 ई.) फारसी की सर्वश्रेष्ठ कृति। इसमें ईरान के बहराम गोर और एक चीनी हसीना (सुंदरी) की काल्पनिक प्रेम-गाथा का बेहद ही मार्मिक चित्रण है, जो दिल को छू जाने वाली है। इसमें खुसरो ने मानो अपना व्यक्तिगत दर्द पिरो दिया है। कहानी मूलत: विदेशी है अत: भारत से संबंधित बातें कम हैं। इसका वह भाग बेहद ही महत्त्वपूर्ण है जिसमें खुसरो ने अपनी बेटी को संबोधित कर उपदेशजनक बातें लिखी हैं। मौलाना शिबली (आजमगढ़) के अनुसार इसमें खुसरो की लेखन कला व शैली चरमोत्कर्ष को पहुँच गई है। घटनाओं के चित्रण की दृष्टि से फारसी की कोई भी मसनवी, चाहे वह किसी भी काल की हो, इसका मुकाबला नहीं कर सकती।

नोट

आज के संदर्भ में खुसरो की कविता का अनुशीलन भावात्मक एकता के पुरस्कर्ताओं के लिए भी लाभकारी होगा। खुसरो वतनपरस्तों अर्थात् देशप्रेमियों के सरताज कहलाए जाने योग्य हैं। उनका संपूर्ण जीवन देश भक्तों के लिए एक संदेश है। देशवासियों के दिलों को जीतने के लिए जाति, धर्म, आदि की एकता की कोई आवश्यकता नहीं। अपितु धार्मिक सहिष्णुता, विचारों की उदारता, मानव मात्र के साथ प्रेम का व्यवहार, सबकी भलाई (कल्याण) की कामना तथा राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता होती है।

यद्यपि अमीर खुसरो दरबारों से संबंधित थे और उसी तरह का जीवन भी व्यतीत करते थे जो साधारणतया दरबारी का होता था। इसके अतिरिक्त वे सेना के कमांडर जैसे बड़े-बड़े पदों पर भी रहे किंतु यह उनके स्वभाव के विरुद्ध था। अमीर खुसरो को दरबारदारी और चाटुकारिता आदि से बहुत चिढ़ व नफरत थी। वह समय-समय पर इसके विरुद्ध विचार भी व्यक्त किया करते थे। उनके स्वयं के लिखे ग्रंथों के अलावा उनके समकालीन तथा बाद के साहित्यकारों के ग्रंथ इसका जीता-जागता प्रमाण है।

6.1.1 खुसरो की कृतियों के उदाहरण

दोहा

खुसरो दरिया प्रेम का, सो उलटी वा की धार,
जो उबरो सो डूब गया, जो डूबा हुवा पार।
सेज वो सूनी देख के रोवुँ मैं दिन रैन,
पिया पिया मैं करत हूँ पहरों, पल भर सुख ना चैन।

पद

छाप तिलक सब छीनी रे मोसे नैना मिलाइके
छाप तिलक सब छीनी रे मोसे नैना मिलाइके
प्रेम बटी का मदवा पिलाइके
मतवाली कर लीन्ही रे मोसे नैना मिलाइके
गोरी गोरी बईयाँ, हरी हरी चूड़ियाँ
बईयाँ पकड़ धर लीन्ही रे मोसे नैना मिलाइके
बल बल जाऊँ मैं तोरे रंग रजवा
अपनी सी कर लीन्ही रे मोसे नैना मिलाइके
खुसरो निजाम के बल बल जाए
मोहे सुहागन कीन्ही रे मोसे नैना मिलाइके
छाप तिलक सब छीनी रे मोसे नैना मिलाइके

गजल

जिहाल-ए-मिस्कीं मकुन तगाफुल,
दुराये नैना बनाये बतियाँ।
कि ताब-ए-हिजरां नदारम ऐ जान,
न लेहो काहे लगाये छतियाँ।।
शबां-ए-हिजरां दरज चूं जुल्फ
वा रोज-ए-वस्लत चो उम्र कोताह,
सखि पिया को जो मैं न देखूं
तो कैसे काटूं अँधेरी रतियाँ।।

नोट

6.4. चंदबरदाई–जीवन परिचय

चंदबरदाई (सितंबर 1149–1200 ई.) एक हिंदू ब्राह्मण थे। वे पृथ्वीराज चौहान, जिन्होंने (1165 से 1192 तक) अजमेर और दिल्ली में शासन किया, के दरबारी कवि थे। चंदबरदाई न केवल राजकवि थे बल्कि पृथ्वीराज के मंत्रिपरिषद् के अहम् सदस्य भी थे। चंदबरदाई ने कई लड़ाईयों में पृथ्वीराज चौहान का साथ दिया। चंदबरदाई का दो बार विवाह हुआ था। कमला और गौरन नामक दो पत्नियों से कवि की दस संतानें थीं।

पृथ्वीराज रासो चंदबरदाई की प्रसिद्ध रचना है। यह काव्य रूप में है इसमें दस हजार से भी ज्यादा पद हैं। कवि ने इस ग्रंथ में पृथ्वीराज चौहान के शासन व व्यक्तित्व का बखान किया है। इस ग्रंथ का ऐतिहासिक महत्त्व है। ग्रंथ ब्रज भाषा में लिखा गया है।

6.4.1 चंदबरदाई की कविता

पद्मसेन कूँवर सुघर ताघर नारि सुजान।
ता उर इक पुत्री प्रकट, मनहुँ कला ससभान।।
मनहुँ कला ससभान कला सोलह सो बन्निय।
बाल वैस, ससि ता समीप अमित रस पिन्निय।।
बिगसि कमल-स्त्रिग, भ्रमर, बेनु, खंजन, म्रिग लुट्टिय।
हीर, कीर, अरु बिंब मोति, नष सिष अहि घुट्टिय।।
छप्पति गयंद हरि हंस गति, बिह बनाय संचै सँचिय।
पदमिनिय रूप पद्मावतिय, मनहुँ काम-कामिनि रचिय।।
मनहुँ काम-कामिनि रचिय, रचिय रूप की रास।
पसु पंछी मृग मोहिनी, सुर नर, मुनियर पास।।
सामुद्रिक लच्छिन सकल, चौंसठि कला सुजान।
जानि चतुर्दस अंग खट, रति बसंत परमान।।
सषियन संग खेलत फिरत, महलनि बग्ग निवास।
कीर इक्क दिष्षिय नयन, तब मन भयो हुलास।।
मन अति भयौ हुलास, बिगसि जनु कोक किरन-रबि।
अरुन अधर तिय सुघर, बिंबफल जानि कीर छबि।।
यह चाहत चष चकित, उह जु तक्किय झरंप्पि झर।
चंचु चहुट्टिय लोभ, लियो तब गहित अप्प कर।।
हरषत अनंद मन मँह हुलस, लै जु महल भीतर गइय।
पंजर अनूप नग मनि जटित, सो तिहि मँह रष्षत भइय।।
तिहि महल रष्षत भइय, गइय खेल सब भुल्ल।
चित्त चहुँट्टयो कीर सों, राम पढ़ावत फुल्ल।।
कीर कुंवरि तन निरषि दिषि, नष सिष लौं यह रूप।
करता करी बनाय कै, यह पद्मिनी सरूप।।
कुट्टिल केस सुदेस पोहप रचयित पिक्क सद।
कमल-गंध, वय-संध, हंसगति चलत मंद मंद।।

सेत वस्त्र सोहे सरीर, नष स्वाति बूँद जस।
भमर-भमहिं भुल्लहिं सुभाव मकरंद वास रस।।
नैनन निरषि सुष पाय सुक, यह सुदिन्न मूरति रचिय।
उमा प्रसाद हर हेरियत, मिलहि राज प्रथिराज जिय।।

नोट

6.5. विद्यापति–परिचय

विद्यापति भारतीय साहित्य की भक्ति परंपरा के प्रमुख स्तंभों में से एक और मैथिली के सर्वोपरि कवि के रूप में जाने जाते हैं। इनके काव्यों में मध्यकालीन मैथिली भाषा के स्वरूप का दर्शन किया जा सकता है। इन्हें वैष्णव और शैव भक्ति के सेतु के रूप में भी स्वीकार किया गया है। मिथिला के लोगों को **'देसिल बयना सब जन मिट्ठा'** का सूत्र देकर इन्होंने उत्तरी-बिहार में लोकभाषा की जनचेतना को जीवित करने का महती प्रयास कियाहै।

मिथिलांचल के लोकव्यवहार में प्रयोग किए जाने वाले गीतों में आज भी विद्यापति की श्रृंगार और भक्ति रस में पगी रचनाएँ जीवित हैं। पदावली और कीर्तिलता इनकी अमर रचनाएँ हैं।

6.5.1 प्रमुख रचनाएँ

महाकवि विद्यापति संस्कृत, अबहट्ठ, मैथिली आदि अनेक भाषाओं के प्रकांड पंडित थे। शास्त्र और लोक दोनों ही संसार में उनका असाधारण अधिकार था। कर्मकांड हो या धर्म, दर्शन हो या न्याय, सौंदर्य शास्त्र हो या भक्ति रचना, विरह व्यथा हो या अभिसार, राजा का कृतित्व गान हो या सामान्य जनता के लिए गया में पिण्डदान, सभी क्षेत्रों में विद्यापति अपनी कालजयी रचनाओं के बदौलत जाने जाते हैं। महाकवि के रूप में ओईनवार राजवंश के अनेक राजाओं के शासनकाल में विराजमान रहकर अपने वैदुष्य एवं दूरदर्शिता से उनका मार्गदर्शन करते रहे।

6.5.2 विद्यापति की कविता

सखि हे, कि पुछसि अनुभव मोय।
सेह पिरित अनुराग बखानिय तिल-तिल नूतन होय।
जनम अबधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल।
सेहो मधुर बोल स्रवनही सूनल स्रुति पथ परस न गेल।
कत मधु-जामिनी रभस गमाओलि न बूझल कइसन केलि।
लाख लाख जुग हिय हिय राखल तइयो हिय जरनि न गेल।
कत बिदगध जन रस अनुमोदए अनुभव काहू न पेख।
विद्यापति कह प्रान जुड़ाइते लाखे न मिलल एक।

व्याख्या– सखी, अनुभव की बातें मुझसे क्या पूछती हो?

उस प्रीति और अनुराग का बखान कैसे करूँगी। वह तो तिल-तिल करके नया होता जाता है, पुराना पड़ ही नहीं सकता।

जीवन भर हमने उस रूप को निहारा, आँखें नहीं भरीं और वे मीठे बोल कानों से सुनती रही, मगर कान प्यासे ही बने रहे।

बसंत की कितनी रातें रंगरेलियों में गुजार दी, फिर भी पता नहीं चला कि काम-केलि क्या होती है।

लाख-लाख युग उसे हृदय के अंदर रखा, फिर भी हृदय की जलन न गई। कितने ही रसिक जन रस का उपयोग करते हैं, परंतु वे उसको समझ नहीं पाते, न देख पाते हैं।

विद्यापति का कहना है–''प्राणों को जुड़ाने के लिए लाख में एक भी नहीं मिला।''

कि कहब हे सखि आजुक रंग। सपनहि सूतल कुपुरुष संग।
बड सुपुरुख बलि आएल धाई। सूति रहल मोर आँचल झंपाई।
कांचुली खोलि आलिंगन देल। मोहि जगाए आपतु निंद गेल।
हे बिहि हे बिहि बड़ दु:ख देल। से दु:ख रे सखि अबहु न गेल।
भनई बिद्यापति एह रस धन्द। भेक कि जान कुसुम-मकरंद।

व्याख्या– सखी, आज रात अच्छा खिलवाड़ रहा। जाने कैसा भुच्चड़ मर्द सपने में मेरे साथ सोया। अच्छे-भले आदमी की तरह पास आया और मेरे आँचल में अपना मुँह छुपाकर मेरे पास लेट गया। पहले तो उसने मेरी अंगिया खोली फिर वह मुझसे चिपट गया। वह मूर्ख मुझे जगाकर खुद सो गया। हाय रे दैव, हाय रे दैव। उसने मुझे कितना दु:ख दिया। सखी वह दु:ख मैं अब भी भूल नहीं पाई हूँ।

विद्यापति कहते हैं–''यह तो रस नहीं, रसाभास हुआ। कुसुम के मकरंद की असलियत मेंढक क्या जाने।''।

जुगल सैल-सिम हिमकर देखल एक कमल दुई जोति रे।
फुललि मधुर फुल सिंदुर लोटा इलि पाँति बईसलि गज-मोति रे।
आज देखल जत के पतिआएत अपूरब बिहि निरमान रे।
बिपरित कनक-कदलि-तर सोभित थल-पंकज अपरूप रे।
तथहु मनोहर बाजन बाजए जागए मनसिज भूप रे।
भनइ विद्यापति पुरबक पुन तह ऐसनि भजए रसमंत रे।
बुझए सकल रस राजा सिवसिंह लखिमा देइ केन कन्त रे।

व्याख्या–दो पर्वतों की सीमा पर मैंने चाँद देखा है। कमल के एक ही फूल में मैंने दो आलोक देखे हैं।

खिले हुए लाल फूल सिंदूर में सन गए। गजमुक्ता के दाने दो पंक्तियों में जमे बैठे हैं...

आज जितना जो कुछ देखा, भला किसे विश्वास होगा? विधाता की अनूठी सृष्टि थी वह...

कनक-रचित कदली स्तंभ उल्टे शोभित थे (उनका पतला हिस्सा नीचे था, मोटा ऊपर)। नीचे दो थल-कमल (चरण) थे। वहाँ मनोहर वाद्य बज रहा था (पायल छमक रही थी)। यह आवाज मानो महाराज कामदेव को जगाने के लिए थी...

विद्यापति कहते हैं–''पूर्व जन्म का संचित पुण्य हो, तभी रसिक व्यक्ति इस प्रकार की युवती पा सकता है... लखिमा देवी (रानी) के पति राजा सिवसिंह ही इन गीतों का मर्म जानते हैं...''

ससन-परस खसु अम्बर रे देखल धनि देह।
नव जलधर-तर चमकए रे जनि बिजुरी-देह।
आज देखलि धनि जाइते रे मोहि उपजल रंग।
कनक-लता जनि संचर रे महि निर अवलंब।
ता पुन अपरुब देखल रे कुच-जुग अरबिंद।
बिगसित निह किछु करन रे सोभाँ मुख-चंद।
विद्यापति कवि गाओल रे रस बुझ रसमंत।
देवसिंह नृप नागर रे हासिनी देइ कान्त।

व्याख्या–हवा लगी तो कपड़े सरक गए। मैंने सुंदरी की देह देख ली। ऐसा लगा कि नए बादल की ओट में बिजली की लकीरें जगमगा उठी हैं।

मैंने आज उसे राह में देखा। मेरे अंदर अनुराग उमड़ आया। मुझे लगा, बिना किसी सहारे के धरती पर कनकलता टहल-बूझ रही है। फिर एक बात यह भी अनोखी देखी कि दोनों उरोज, उरोज नहीं थे, कमल थे। मगर वे खिले क्यों नहीं थे?

इसलिए नहीं खिल पा रहे थे कि सामने पूरा चाँद-मुखड़ा था।

नोट

विद्यापति ने गाया–''रसिक जन ही इसका मर्म समझेंगे। हासिनी देवी के प्राणवल्लभ राजा देव सिंह बड़े रसिक हैं।''

6.6. अब्दुल रहीम–परिचय

अब्दुल रहीम खान-ए-खाना (17 दिसम्बर, 1550-1627), जिन्हें हम रहीम के नाम से जानते हैं, मुगल काल के चरमोत्कर्ष काल में अकबर के दरबार में कवि थे। रहीम बादशाह अकबर के दरबार के 'नौ रत्नों' में से एक थे। रहीम के लिखे दोहे तथा ज्योतिषशास्त्र पर लिखी पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध हैं।

रहीम के पिता बैरम खान थे। जिन्होंने हुमायूँ की मृत्यु के बाद अकबर का पालन-पोषण किया तथा साम्राज्य का संरक्षण किया।

रहीम का जन्म लाहौर के एक मुस्लिम परिवार में हुआ था, लेकिन वे धार्मिक रूप से उदार और सहिष्णु थे। उनकी दानशीलता की प्रसिद्धि सुन कर तुलसीदास जी ने एक दोहा लिख कर पूछा–

'ऐसी देनी देंन ज्यूँ, कित सीखे हो सैन
ज्यों-ज्यों कर ऊँचों करो, त्यों-त्यों निचे नैन'

यह जानते हुए कि तुलसीदास जी सब कुछ भली-भाँति जानते हैं। रहीम ने यह दोहा लिख कर अपना जवाब स्नेहपूर्वक भिजवाया–

'देनहार कोई और है, भेजत जो दिन-रैन
लोग भरम हम पर करै, तासौ निचे नैन'

रहीम को संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान था। मुस्लिम संप्रदाय का होने के बावजूद उनका झुकाव सगुण भक्तिधारा की कृष्णधारा की ओर था। श्रीकृष्ण को रहीम अपना आराध्य मानते थे। ज्योतिषशास्त्र के उच्च विद्वान थे। ज्योतिषशास्त्र पर लिखी उनकी पुस्तकें 'खेतीकौतूकम' तथा द्वाविश्द् योगावली है।

उनके लिखे दोहे जगप्रसिद्ध हैं। इसके अलावा रहीम ने बाबर की आत्मकथा 'बाबरनामा' का फारसी में अनुवाद किया।

6.6.1 रहीम के दोहे

बड़े बड़ाई न करें, बड़े न बोले बोल,
रहिमन हीरा कब कहे, लखटका मेरो मोल।
रहिमन देखि बड़ेन को, लग्हू न दीजे दारी,
जहाँ काम आवे सुई, कहा करे तलवारी।
रहिमन धागा प्रेम का, मत तोड़ो चटकाय,
टूटे से फिर ना जुड़े, जुड़े गाँठ पड़ जाए।
खीरा मुख ते काटिये, मलिय तलों लगाये।
रहिमन कड़वे मुख कों, चहियत इही सजाय।।
जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करी सकत कुसंग,
चंदन विष व्यापत नहीं, लिप्तात रहत भुजंग।
कही रहीम संपति सगे, बनत बहुत बहुरीत,
बिपति कसौटी जे कसे, तेही सांचे मीत।

6.7. सारांश (Summary)

- खुसरो में व्यावहारिक बुद्धि की कमी नहीं थी। सामाजिक जीवन की खुसरो ने कभी अवहेलना नहीं की। खुसरो ने अपना सारा जीवन राज्याश्रय में ही बिताया। राजदरबार में रहते हुए भी खुसरो हमेशा कवि, कलाकार, संगीतज्ञ और सैनिक ही बने रहे।
- लैला-मजनूँ का प्रत्येक शेर गागर में सागर के समान है। यह पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। कुछ विद्वान इसका काल 698 हिजरी भी मानते हैं। कलात्मक दृष्टि से जो विशेषताएँ 'मजनूँ व लैला' में पाई जाती हैं, वे और किसी मसनवी में नहीं हैं।
- यद्यपि अमीर खुसरो दरबारों से संबंधित थे लेकिन उसी तरह का जीवन भी व्यतीत करते थे जो साधारणतया दरबारी का होता था।
- विद्यापति भारतीय साहित्य की भक्ति परंपरा के प्रमुख स्तंभों में से एक और मैथिली के सर्वोपरि कवि के रूप में जाने जाते हैं।

6.8. शब्दकोश (Keywords)

1. **अनुशीलन**–बार-बार किया जाने वाला अध्ययन या अभ्यास
2. **मकरन्द**–फूलों का रस, फूलों का केसर
3. **पुर्सी**–किसी की मृत्यु के समय शोक व्यक्त करना, सांत्वना

6.9. अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. अमीर खुसरो की प्रमुख कृतियों का परिचय दें।
2. 'ससन परस खसु अम्बर रे देखल धनि देह
   नव जलधर-तर चमकए रे जनि बिजुरी-देह'
   उपरोक्त पंक्तियों की व्याख्या कीजिए।
3. अब्दुल रहीम का जीवन परिचय दीजिए।
4. **निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य बताएँ–**
   1. अमीर खुसरो खड़ी बोली के पहले लोकप्रिय कवि माने जाते हैं।
   2. कवि चंदबरदाई ने 'पृथ्वीराज रासो' की रचना फारसी भाषा और मसनवी शैली में की।
   3. विद्यापति ब्रज भाषा के कवि और प्रकांड पंडित थे।
   4. लैला-मजनूँ की रचना चंदबरदाई ने की है।
   5. अमीर खुसरो को दरबारदारी और चाटुकारिता से चिढ़ व नफरत थी।

6.10. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें
1. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – राजकुमार वर्मा
2. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य – बेचन
3. हिंदी भाषा का उदभव और विकास – गुणानंद जुयाल
4. हिंदी भाषा – कैलास चंद्र भाटिया

7. आदिकालीन साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ

नोट

रुपरेखा

7.1 उद्देश्य (Objectives)

7.2 प्रस्तावना (Introduction)

7.3 आदिकालीन साहित्य में उपलब्ध होने वाली प्रमुख प्रवृत्तियाँ/विशेषताएँ

- **7.3.1** काव्य ग्रंथों में ऐतिहासिकता, युद्ध वर्णन में सजीवता तथा प्रमाणिकता में संदेह
- **7.3.2** रासो काव्य ग्रंथों में वीर एवं श्रृंगार रस की प्रधानता, आश्रयदाताओं की प्रशंसा, संकुचित राष्ट्रीयता तथा कल्पना की प्रचुरता
- **7.3.3** रासो काव्य ग्रंथों में विविध छंदों का प्रयोग, डिंगल-पिंगल भाषा का प्रयोग तथा अलंकारों का स्वाभाविक समावेश

7.7 सारांश (Summary)

7.8 शब्दकोश (Keywords)

7.9 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

7.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

7.1. उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- आदिकालीन साहित्य की प्रमुख विशेषताओं को जानने में।
- आदिकाल में रासो साहित्य की रचना की जानकारी प्राप्त करने में।
- ग्रंथों में पाई जाने वाली विभिन्न छंदों, भाषाओं एवं अलंकारों के स्वाभाविक समावेश को जानने में।

7.2. प्रस्तावना (Introduction)

आदिकालीन साहित्य में प्राप्त होने वाली प्रवृत्तियाँ तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में देखी जानी चाहिए। आदिकाल में मुख्य रूप से रासो साहित्य की रचना हुई। रासो ग्रंथों में भी बहुत सारे ग्रंथ कालांतर में परिवर्तित एवं परिवांछित हुए, तथापि उनका मूल रूप आदिकाल में ही रचा गया, यह प्रमाणित हो चुका है, अत: यह कहना उचित होगा कि रासो साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों को ही आदिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ कहना समीचीन प्रतीत होता है।

7.3. आदिकालीन साहित्य में उपलब्ध होने वाली प्रमुख प्रवृत्तियाँ/विशेषताएँ

आदिकालीन साहित्य में उपलब्ध होने वाली प्रवृत्तियाँ तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में देखी जानी चाहिए। इस काल में प्रमुख रूप से रासो साहित्य की रचना हुई, अत: आदिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियाँ रासो साहित्य की प्रवृत्तियाँ ही मानी जा सकती हैं आदिकालीन जैन साहित्य वस्तुत: अपभ्रंश भाषा में लिखा गया है, अत: उसे आधारभूत सामग्री के रूप में हम ग्रहण नहीं कर सकते। रासो ग्रंथों में भी बहुत सारे ग्रंथ कालांतर में परिवर्तित एवं परिवर्द्धित हुए, तथापि उनका मूल रूप आदिकाल में ही रचा गया, यह प्रमाणित

हो चुका है, अत: रासो साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों को ही आदिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ कहना समीचीन प्रतीत होता है। इन ग्रंथों में पाई जाने वाली सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन निम्न शीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है–

नोट

7.3.1 काव्य ग्रंथों में ऐतिहासिकता, युद्ध वर्णन में सजीवता तथा प्रमाणिकता में संदेह

1. **ऐतिहासिकता का अभाव**–रासो साहित्य के चरित्र-नायक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, किंतु इन काव्य-ग्रंथों में ऐतिहासिकता की रक्षा नहीं की गई है। वस्तुत: इन ग्रंथों में तथ्य कम हैं, कल्पना अधिक है, परिणामत: अनेक ऐतिहासिक भ्रांतियाँ उत्पन्न होती हैं। इन ग्रंथों के रचयिताओं ने जो वर्णन किए हैं, वे तत्कालीन इतिहास से मेल नहीं खाते। घटनाओं, नामावली, तिथियों का जो विवरण रासो काव्यों में उपलब्ध होता है, वह इतिहाससम्मत नहीं है। ऐतिहासिक चरित्र-नायकों को लेकर लिखे गए काव्य ग्रंथों में जिस सावधानी की अपेक्षा की जाती है, उससे ये नितांत विमुख रहे हैं। परिणामत: इन ग्रंथों से किसी ऐतिहासिक तथ्य एवं सत्य का उद्‌घाटन नहीं होता। इतिहास में अतिशयोक्ति से बचा जाता है, जबकि चारण कवियों ने अतिशयोक्ति को प्रमुखता देते हुए काल्पनिक वर्णन किए हैं, यही कारण है कि इन ग्रंथों में ऐतिहासिकता का अभाव है।
2. **युद्ध-वर्णन में सजीवता**–रासो ग्रंथों में किए गए युद्ध वर्णन सजीव प्रतीत होते हैं। इन काव्य ग्रंथों में जहाँ-जहाँ युद्ध-वर्णन के प्रसंग हैं, वहाँ-वहाँ ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कवि युद्ध का आँखों देखा हाल सुना रहा है। चारण कवि कलम के ही नहीं तलवार के भी धनी थे, अत: अवसर पड़ने पर अपने-अपने आश्रयदाता के साथ रणक्षेत्र में जाकर तलवार के हाथ भी दिखाते थे। युद्ध के दृश्यों को उन्होंने अपनी आँखों से देखा था, अत: इन युद्ध-वर्णनों में जो कुछ भी कहा गया है, वह उनकी अपनी वास्तविक अनुभूति है। इन कवियों ने केवल सैन्य बल का ही नहीं अपितु योद्धाओं की उमंगों, मनोदशाओं एवं क्रियाकलापों का सुंदर वर्णन किया है। इन युद्ध-प्रसंगों में कवि की कल्पना का चमत्कार न होकर वीर हृदय के उच्छ्वासों का स्पंदन है। तत्कालीन परिस्थितियों के कारण युद्ध एक अनिवार्य आवश्यकता थी, अत: एक ऐसे वर्ग की अपेक्षा राजाओं को रहती थी जो वीरों को युद्ध के लिए प्रोत्साहित कर सके। चारण कवि इसी आवश्यकता की पूर्ति करते थे। इनके योगदान की चर्चा करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, ''देश पर सब ओर से आक्रमण की संभावना थी। निरंतर युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग थे। उनका कार्य ही था हर प्रसंग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना-योजना का आविष्कार।''
3. **प्रमाणिकता में संदेह**–आदिकाल के अधिकांश रासो कवियों की प्रमाणिकता संदिग्ध है। पृथ्वीराज रासो जो इस काल की प्रमुख रचना बताई गई है, भी अप्रमाणिक मानी गई है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, ''इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं है कि यह पूरा ग्रंथ वास्तव में जाली है।'' इसी प्रकार खुमान रासो और परमाल रासो की प्रमाणिकता में भी संदेह है। मूल कवि की रचना में अन्य लोगों ने कब और कितना अंश प्रक्षिप्त रूप में जोड़ दिया है इसका निर्णय कर पाना कठिन है। भाषा-शैली और विषय सामग्री के आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये रासो काव्य समय-समय पर परिवर्तित एवं परिवर्द्धित होते रहे हैं।

7.3.2 रासो काव्य ग्रंथों में वीर एवं श्रृंगार रस की प्रधानता, आश्रयदाताओं की प्रशंसा, संकुचित राष्ट्रीयता तथा कल्पना की प्रचुरता

1. **वीर एवं श्रृंगार रस की प्रधानता**–रासो ग्रंथों में यद्यपि सभी रसों का समावेश हुआ है, तथापि वीर एवं श्रृंगार रस की प्रधानता इनमें परिलक्षित होती है। युद्धों का वर्णन होने से

नोट

वीर रस की योजना इनमें अनायास ही हो गई है। वीरों के मनोभाव एवं अदम्य उत्साह का जैसा हृदयग्राही वर्णन रासो काव्यों में किया गया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। पृथ्वीराज रासो में ऐसे अनेक मर्मस्पर्शी स्थल हैं जहाँ वीर रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। युद्ध, शौर्य-प्रदर्शन के लिए तथा सुंदर राजकुमारियों से विवाह करने के निमित्त लड़े जाते थे, अत: शृंगार रस के भावपूर्ण वर्णनों का समावेश भी इन काव्य ग्रंथों में हो गया है। राजकुमारियों के स्वप्निल सौंदर्य का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन नख-शिख परिपाटी पर किया गया है। नायिका के रूप-सौंदर्य के साथ-साथ वय:संधि और षट्ऋतु वर्णन का सम्यक समावेश भी रासो ग्रंथों में किया गया है।

2. **आश्रयदाताओं की प्रशंसा**—रासो ग्रंथों के रचयिता चारण कहे जाते थे और अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा में काव्य रचना करना अपना परम कर्तव्य मानते थे। अपने चरित्र नायक की श्रेष्ठता एवं प्रतिपक्षी राजा की हीनता का वर्णन अतिशयोक्ति में करना इन चारणों की प्रमुख विशेषता कही जा सकती है। दरबारी कवि होने के कारण इन कवियों ने आश्रयदाता के शौर्य, यश, वैभव का काल्पनिक एवं अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। पृथ्वीराज रासो एवं खुमान रासो इसी कोटि की प्रशंसापरक काव्य रचनाएँ हैं, जिनमें कवि ने अपने चरित नायक को राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन और हरिश्चंद्र से भी श्रेष्ठ बताते हुए प्रत्येक दृष्टि से उनकी महत्ता प्रतिपादित की है।

3. **संकुचित राष्ट्रीयता**—इस काल में वीरता का वर्णन तो बहुत हुआ, परंतु स्वदेशाभिमान एवं राष्ट्रीयता की भावना का अभाव है। उस समय देश खंड-खंड राज्यों में विभक्त था और इन छोटे-छोटे राज्यों के शासक परस्पर कलह और संघर्ष में रत रहते थे। वे दस-बीस गाँवों के छोटे से राज्य को ही राष्ट्र समझते थे, अत: उनमें संपूर्ण भारत को एक राष्ट्र के रूप में देखने की भावना का अभाव था। परिणामत: विदेशी आक्रांताओं के विरुद्ध संगठित होकर युद्ध करने में वे कभी सफल नहीं हुए। पड़ोसी राज्य पर विदेशी आक्रमण होने पर ये रंचमात्र भी विचलित नहीं होते थे। इसी संकुचित राष्ट्रीयता के कारण धीरे-धीरे सभी देशी साम्राज्य विदेशी आक्रांताओं द्वारा पददलित किए जाते रहे। यदि इन शासकों ने अपने क्षुद्र अहंभाव का परित्याग करके संगठित होकर विदेशियों का सामना किया होता तो देश को दीर्घ अवधि तक विदेशी शासन झेलने हुए परतंत्र न रहना पड़ता।

4. **कल्पना की प्रचुरता**—चारण कवियों की रचनाएँ तथ्यपरक न होकर कल्पना प्रधान हैं। ऐतिहासिक पात्र तो इन रचनाओं में हैं, पर इतिहास नाममात्र को ही है। कवियों ने कल्पना का सहारा लेते हुए घटनाओं, नामावलियों एवं तिथियों तक की कल्पना कर ली है। वस्तुत: इन रासो काव्यों में संभावना और कल्पना पर अधिक बल दिया गया है, तथ्यों पर कम। अपने आश्रयदाता की वीरता का काल्पनिक वर्णन करने में इन्होंने अतिशयोक्ति का सहारा लिया है और इसी क्रम में इतिहास-सत्य की अवहेलना भी कर दी है। इन वीरगाथाओं को इसी कारण से काल्पनिक कथा युक्त रचनाएँ कहना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

7.3.3 रासो काव्य ग्रंथों में विविध छंदों का प्रयोग, डिंगल-पिंगल भाषा का प्रयोग तथा अलंकारों का स्वाभाविक समावेश

1. **विविध छंदों का प्रयोग**—रासो ग्रंथों में छंदों की विविधता परिलक्षित होती है। छंदों की यह विविधता हिंदी के न तो परवर्ती साहित्य में मिलती है, न पूर्ववर्ती साहित्य में। पृथ्वीराज रासो में अनेक छंदों का प्रयोग हुआ है, यथा—दोहा, गाथा, तोमर, तोटक, रोला, उल्लाला, साटक कुंडलिया आदि। यह छंद परिवर्तन मात्र कलात्मकता या चमत्कार प्रदर्शन के लिए न होकर भाव-प्रकाशन के लिए किया गया है। छंदों की विविधता के कारण ही चंदबरदाई को छंदों का सम्राट और उनकी रचना पृथ्वीराज रासों को 'छंदों का अजायबघर' कहा जाता हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रासो के छंदों की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, ''रासो के छंद जब बदलते हैं तो श्रोता के चित्त में प्रसंगानुकूल नवीन कंपन उत्पन्न करते हैं।''

2. **डिंगल-पिंगल भाषा का प्रयोग**–आदिकालीन रासो साहित्य में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह आधुनिक हिंदी से बहुत भिन्न है। अपभ्रंश और राजस्थानी भाषा के जिस मिले-जुले रूप का प्रयोग चारण कवियों ने रासों ग्रंथों में किया है, उसे डिंगल नाम दिया गया है। इसी प्रकार तत्कालीन अपभ्रंश और ब्रजभाषा के मेल से बनी भाषा को पिंगल कहा जाता है, जिसका प्रयोग भी इन ग्रंथों में किया गया है। वीर रस के भावों को व्यक्त करने की अद्‌भुत क्षमता डिंगल-पिंगल भाषा में विद्यमान है। अनुस्वारांत प्रवृत्ति एवं द्वित्व वर्णों की प्रधानता भी रासो की भाषा में उपलब्ध होती है। संस्कृति की तत्सम शब्दावली के साथ-साथ तद्‌भव शब्दों का प्रयोग भी इन काव्य ग्रंथों में प्रचुरता से किया गया है।

3. **अलंकारों का स्वाभाविक समावेश**–रासो साहित्य में अलंकारों का स्वाभाविक समावेश हुआ है। चारण कवियों ने अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए अलंकारों का सहारा लिया है, कहीं भी चमत्कार प्रदर्शन के लिए अलंकार योजना नहीं की गई है। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा का जैसा हृदयग्राही चित्रण इन काव्य ग्रंथों में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। सौंदर्य चित्रण में उत्प्रेक्षाओं से काम लिया गया है। यद्यपि रासों के विशाल कलेवर में प्राय: सभी अलंकार खोजने से प्राप्त हो जाते हैं तथापि अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक, श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति जैसे अलंकारों की प्रधानता रही है।

   निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आदिकालीन रासो साहित्य की प्रवृत्तियाँ तद्‌युगीन परिस्थितियों की देन है। जहाँ तक चारण कवियों की काव्य प्रतिभा का प्रश्न है, वह अपने में बेजोड़ है। कथा प्रसंगों की योजना, वर्णनात्मकता, भाव-व्यंजना, रस योजना आदि दृष्टियों से रासो साहित्य अनुपम कहा जा सकता है।

7.4. सारांश (Summary)

- रासो ग्रंथों में भी बहुत सारे ग्रंथ कालांतर में परिवर्तित एवं परिवर्द्धित हुए, तथापि उनका मूल रूप आदिकाल में ही रचा गया, यह प्रमाणित हो चुका है, अत: रासो साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों को ही आदिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ कहना समीचीन प्रतीत होता है।
- आदिकालीन रासो साहित्य की प्रवृत्तियाँ तद्‌युगीन परिस्थितियों की देन हैं। जहाँ तक चारण कवियों की काव्य प्रतिभा का प्रश्न है, वह अपने में बेजोड़ हैं। कथा प्रसंगों की योजना, वर्णनात्मकता, भाव-व्यंजना, रस योजना आदि दृष्टियों से रासो साहित्य अनुपम कहा जा सकता है।

7.5. शब्दकोश (Keywords)

1. **वीरता**–बहादुरी, साहस
2. **व्यंग्यमयी**–व्यंगभरी तीखी आलोचना

7.6. अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. आदिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए।
2. आदिकाल में प्रमुख रूप से रासो साहित्य की रचना हुई, उल्लेख कीजिए।
3. रासो ग्रंथों से क्या तात्पर्य है? विवेचना कीजिए।
4. **रिक्त स्थानों की पूर्ति करें–**
   1. आदिकालीन जैन साहित्य वस्तुत: ..... भाषा में लिखा गया है।
   2. ..... में किए गए युद्ध वर्णन सजीव प्रतीत होते हैं।
   3. पृथ्वीराज रासो अपने युद्ध वर्णनों के कारण भी एक ..... रचना मानी जाती है।

नोट

5. बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. किसका वर्णन होने से वीर रस की योजना इनमें अनायास ही हो गई है?
   (क) काव्यों (ख) मुहावरों
   (ग) लोकोक्तियों (घ) युद्धों
2. छोटे शासक पड़ोसी राज्य पर विदेशी आक्रमण होने पर रंचमात्र भी ..... नहीं होते थे।
   (क) परेशान (ख) क्रोधित
   (ग) विचलित (घ) या उपरोक्त में से कोई नहीं
3. ..... ने कल्पना का सहारा लेते हुए घटनाओं, नामावलियों एवं तिथियों तक की कल्पना कर ली है।
   (क) सूफियों (ख) कवियों
   (ग) संतों (घ) बुद्धिजीवियों

6. निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य बताएँ–

1. रासो ग्रंथों में छंदों की विविधता परिलक्षित नहीं होती है।
2. अनुस्वारांत प्रवृत्ति एवं द्वित्व वर्णों की प्रधानता भी रासो की भाषा में उपलब्ध होती है।
3. सौंदर्य चित्रण में उत्प्रेक्षाओं से काम लिया गया है।

7.7. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें
1. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – राजकुमार वर्मा
2. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य – बेचन
3. हिंदी भाषा का उदभव और विकास – गुणानंद जुयाल
4. हिंदी भाषा – कैलास चंद्र भाटिया

8. पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) : सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि प्रमुख युग प्रसूतियाँ, विभिन्न रचनाओं और उनकी प्रतिनिधि कृतियाँ, साहित्यिक विशेषताएँ

रूपरेखा

8.1 उद्देश्य (Objectives)
8.2 प्रस्तावना (Introduction)
8.3 पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल)
8.4 सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि
8.5 साहित्यिक विशेषताएँ
8.6 सारांश (Summary)
8.7 शब्दकोश (Keywords)
8.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
8.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

8.1. उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- पूर्व मध्यकाल की परिस्थितियों को जानने में।
- भक्ति आंदोलन के उदय के कारण समझने में।
- सीमांकन के विषय को समझने में।
- परिवेश के विषय को समझने में।

8.2. प्रस्तावना (Introduction)

हिंदी-साहित्य के संदर्भ में भक्तिकाल से तात्पर्य उस काल से है जिसमें मुख्यत: भगवत धर्म के प्रचार तथा प्रसार के परिणामस्वरूप भक्ति-आंदोलन का सूत्रपात हुआ था और उसका लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण धीरे-धीरे लोक-प्रचलित भाषाएँ भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती गई और कालांतर में भक्तिविषयक विपुल साहित्य की बाढ़-सी आ गई। परंतु यह भावना वैष्णव धर्म तक ही सीमित न थी–शैव, शाक्त आदि धर्मों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन संप्रदाय भी इस प्रवाह से प्रभावित हुए बिना न रह सके। भक्तिकाल का विवेचन करने के पूर्व भक्ति-भावना की परंपरा और परिवेश का संक्षिप्त परिचय पा लेना विषय को बोधगम्य बनाने में सहायक होगा।

8.3. पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल)

भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में भक्ति-मार्ग का विशिष्ट स्थान है, यद्यपि संहिता भाग के रचना-काल तक उसके अस्तित्व का कोई परिचय नहीं मिलता। वैदिक युग में यज्ञ अथवा कर्मकांड के माध्यम से धर्मानुष्ठान हुआ करते थे। आगे लोग प्राय: प्राकृतिक वस्तुओं अथवा घटनाओं के मूल में किसी

नोट

देवता की कल्पना कर लेते थे और उसे प्रसन्न रखने के लिए यज्ञादि का आयोजन करते थे। विनय अथवा प्रार्थना भी उनके दैनिक जीवन की उल्लासमयी अभिव्यक्ति थी। उनका ध्यान मुख्यत: ऐहिक सुखों की प्राप्ति कर केंद्रित था और वे अंत:करण की साधना की अपेक्षा बाह्य विधानों का अनुसरण करने की ओर अधिक प्रवृत्त रहते थे। फिर भी, शुभाशुभ परिणामों में उनका विश्वास था, जिस कारण उनके यज्ञादि कर्मकांड श्रद्धा से अनुप्राणित रहते थे। श्रद्धाविहीन यज्ञ का कोई अर्थ न था। इसी से श्रद्धा-मूलक भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और आगे चलकर बहुदेववाद भी एकदेववाद में परिणत हो चला। भक्त के लिए यह स्वाभाविक हो गया कि वह बिखरी हुई शक्तियों में सामंजस्य लाकर अपनी दृष्टि किसी एक में निविष्ट करे। फलस्वरूप बहुदेवों की कल्पना सिमटकर धीरे-धीरे एक में ही समाहित होने लगी और कहा जाने लगा कि विद्वान् लोग उसी (सत्) को इंद्र, मित्र, वरुण या अग्नि के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार सार्वभौम मौलिक एकता के प्रतिपादन द्वारा परमात्म-तत्व की प्रतिष्ठा हो गई। प्राकृतिक शक्तियों के दैवीकरण के बाद देवताओं का मानवीकरण होने लगा, जिसकी परिणति अवतारवाद में हुई। हिंसक तथा कठोर वृत्तियों का स्थान क्रमश: कोमल वृत्तियाँ लेने लगीं, जिसका प्रभाव भक्ति-साधना की विधियों पर पड़ना स्वाभाविक था। श्रमण- संस्कृति द्वारा इस प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रश्रय प्रोत्साहन मिला।

आर्यों की अनेक सभाएँ तथा परिषदें हुआ करती थीं जिनमें उपस्थित किए गए तर्क-वितर्क एवं दार्शनिक विवेचन के परिणामस्वरूप 'ब्राह्मण', 'आरण्यक' तथा 'उपनिषद् नामक भागों की रचना हुई। जीवात्मा तथा अव्यक्त प्रकृति की भावना का उदय संभवत: इसी अवधि में हुआ। कर्मफल तथा जन्मांतरवाद की कल्पना के आधार पर कर्म-बंधन से जीवात्मा को उन्मुक्त करने के उपाय सोचे जाने लगे। कर्म-जाल से पृथक् रहकर परमात्म-चिंतन में तल्लीन रहने के लिए तपादि की व्याख्या की गई वैदिकोपासना ध्यान-योग के रूप में परिणत हो चली, जिससे श्रद्धा-भक्ति का द्वार उन्मुक्त हो गया। मोनियर विलियम्स के अनुसार 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति 'भज्' से की जा सकती है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भक्ति-भावना आर्यों के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों के फलस्वरूप क्रमश: श्रद्धा-उपासना से विकसित होकर उपास्य भगवान् के ऐश्वर्य में भाग लेना (भज्=भाग लेना) जैसे व्यापक भाव में परिणित हुई। वैसे 'भक्ति' का सर्वप्रथम उल्लेख 'श्वेताश्वेतर उपनिषद्' (6/33) में मिलता है। यह भी उल्लेखनीय है कि आर्यों के भारत आने पर उन्हें यहाँ की यक्ष, किन्नर, गंधर्व, असुर, व्रात्स, विद्याधर आदि जातियों की नागर संस्कृति का परिचय मिला था। आर्य लोग मुख्यत: सैनिक जीवन के अभ्यर्थी थे और उनका जातीय जीवन ग्रामीण संस्कृति पर आधारित था। इन दोनों के मिलन और पारस्परिक आदान-प्रदान से भारतीय संस्कृति का विकास हुआ, जिसकी छत्रछाया में भक्ति-परंपरा का बीज विकसित हुआ।

वैदिक भक्ति-परंपरा के समानांतर दक्षिण भारत में द्रविड़-संस्कृतिगर्भित पृथक् भक्ति-परंपरा का सूत्रपात हो चुका था। यह परंपरा ईसा-पूर्व कई शताब्दियों से चली आ रही थी, जिसमें शरणागति और समर्पण की भावना प्रबल रूप में पाई जाती थी और जो कालांतर में दाक्षिणात्य आचार्यों द्वारा उत्तर भारत में भी लोकप्रिय बनी। वास्तव में ईस्वी सन् के प्रारंभिक काल में ही उत्तर और दक्षिण की दोनों परंपराओं का मिलन हो गया था, जिसका निदर्शन आडयारों तथा अडियारों के भक्ति-साहित्य में सुलभ है। इसके अंतर्गत 'पूजा' को भक्ति का मुख्य साधन माना गया है, जिसे 'शिव' की भाँति तमिल भाषा का शब्द ठहराया गया है। 'मायोन' तथा 'तिरुमाल' को भी विष्णु का पर्याय बतलाया जाता है। स्वयं 'भागवत' को भी कन्नड़ प्रदेश में रचित कहा गया है। यह ग्रंथ मध्यकालीन भक्ति-परंपरा का मुख्य प्रेरणा-स्रोत बना।

भक्ति-भावना के संदर्भ में पांचरात्र भी कम उल्लेखनीय नहीं हैं। उनका मुख्य उद्देश्य भक्ति-मार्ग के साधन निरूपण करना रहा है। संहिताओं ने देवालयों के निर्माण, उनमें आराध्य देवी की प्रतिष्ठा और विधिवत् पूजन-अर्चन की व्यवस्था दी थी। इससे अवतारवाद को प्रचुर प्रश्रय मिला। ईसाई मत और इस्लाम धर्म की देन के रूप में भक्ति की स्थापना बहुत पहले ही अप्रमाणित हो चुकी है। इधर श्रमण-संस्कृति और साहित्य के आधुनिक विद्वानों ने भी परंपरा से अपना प्राचीन संबंध-सूत्र दिखलाने के यत्न किए हैं, जिन्हें किसी एक ही उत्स के भिन्न-भिन्न स्रोत समझा जा सकता है। फिर भी, इनमें रोगात्मक शरणागति और समर्पण के वैसे विधितापूर्ण भाव विकसित नहीं हो पाए जिनके दर्शन एतद् विषयक साहित्य में अन्यत्र सुलभ हैं।

8.3.1 सीमांकन

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने समय तक के साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर भक्ति-काल का निर्धारण 1318 से 1643 ई. तक किया है। न तो आदिकाल में परिगणित सिद्ध, नाथ और जैन-साहित्य में विद्यमान भक्ति-तत्व के आधार पर इस अवधि का विस्तार उचित है और न रीतिकाल में स्फुट रूप में रचित भक्तिपरक छंदों के आधार पर काल-विस्तार तर्कसंगत। शुक्ल जी की स्थापना में हेर-फेर की अधिक गुंजाइश तक नहीं दिखाई देती, जब तक वैसी सामग्री क्रमबद्ध रूप में न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध न हो जाए। फिर भी, भक्ति-साहित्य में उन वैष्णवेतर रचनाओं को सम्मिलित करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए जो विषयवस्तु की दृष्टि से भी उक्त सीमा के अनुकूल पड़ती है। भक्तिकाव्य की परंपरा परवर्ती काल तक प्रवाहित रही है, किंतु उसमें जितनी मात्रा अनुकरण की रहती आयी है, उतनी भावना के नवोन्मेष की नहीं। इसलिए जब तक ऐसी सामग्री उपलब्ध न हो कि पुनर्विचार की आवश्यकता पड़े, तब तक सामान्यत: शुक्ल जी की स्थापना को चलते रहने देना चाहिए। फिर भी, अध्ययन की सुविधा के लिए भक्तिकाल को चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक मानना उचित होगा, क्योंकि आदिकाल की रचना-प्रवृत्तियाँ चौदहवीं शती के मध्य तक पर्याप्त बलवती रही थीं।

8.4. सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि

8.4.1 राजनीतिक स्थिति

पूर्व-मध्यकाल का आरंभ दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक (1325-1351) के राज्यकाल में हुआ। उत्तर से दक्षिण तक के अपने राज्य-विस्तार को ध्यान में रखकर उसने दिल्ली की अपेक्षा देवगिरि को अपनी राजधानी बनाने का यत्न किया और उसका नाम दौलताबाद रखना चाहा। इस प्रयास में दिल्ली-प्रदेश एकदम उजाड़ हो गया। उसने एक बार तांबे के सिक्के चलाए और कई बार सुदूर चीन पर आक्रमण की योजना बनाई। मिस्र के खलीफा से उसने अपनी राज्यसत्ता के लिए धार्मिक स्वीकृति भी प्राप्त की। इन-जैसी बातों के अतिरिक्त उसके अपने विशिष्ट गुण भी थे; जिनके कारण वह कवि, विद्याव्यसनी तथा पक्षपात-रहित सुल्तान बन सका। उसके यहाँ विद्वानों को संरक्षण भी मिलता था। हिंदू प्रजा के प्रति वह उदारमना था, किंतु उसके उत्तराधिकारी फीरोज़ तुगलक में धार्मिक सहिष्णुता का अभाव था, इसलिए वह हिंदुओं के प्रति पक्षपात-रहित नहीं रह सका। उसमें वैसी योग्यता भी न थी। फलस्वरूप अवसर पाकर कई सूबेदारों ने विद्रोह कर दिया और दिल्ली-सल्तनत में बिखराव उत्पन्न हो गया। उसका उत्तराधिकारी 'जौनासाहि' (जूनाशाह) था, जिसका उल्लेख मुल्ला दाऊद ने 'चंदायन' में किया है। परवर्ती सुल्तानों में से कोई बिगड़ती हुई स्थिति को संभाल न सका और सुल्तान महमूद शाह की मृत्यु के उपरांत 1412 ई. तुगलक-वंश का आधिपत्य समाप्त हो गया। इसके बाद खिज्र खाँ ने दिल्ली पर अधिकार कर सैयद-वंश का शासन स्थापित किया जो 1451 ई. तक चलता रहा। इस वंश के चार सुल्तानों में से किसी का भी नाम उल्लेखनीय नहीं हैं, इनसे अधिक योग्य लोदी-वंश के सुल्तान सिद्ध हुए, जिनमें से कई ने भीषण युद्धों में भाग लिया। अंतिम सुल्तान इब्राहिम लोदी (1487-1526) को शक्तिशाली मुगलों का सामना करना पड़ा और लोदी वंश की सल्तनत जाती रही। लोदी वंश के शासन-काल में ही केंद्रीय शासन शिथिल पड़ चुका था और मालवा आदि स्वतंत्र सूबे बनने लगे थे।

मालवा–मालवा विक्रम की दसवीं शताब्दी के लगभग प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था, जबकि यह परमार राजपूतों के अधीन आया था। राजा भोज के समय इसकी ख्याति और अधिक बढ़ गई। सुल्तान इल्तुतमिश द्वारा 1235 ई. में आक्रमण किए जाने पर महाकाल के मंदिर के ध्वस्त हो जाने के बाद यह श्रीहीन हो चला। सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने 1310 ई. में इसे अपने शासन में ले लिया। 1401 ई. में मुहम्मद गोरी के वंशज दिलावर खाँ ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर धार नगरी को अपनी राजधानी बना लिया, परंतु उसके उत्तराधिकारी पुत्र अलप खाँ (हुशंगशाह) ने अपनी राजधानी मांडू में स्थापित की। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका वजीर महमूद खिलजी यहाँ का स्वामी बना। अपनी योग्यता से उसने अपने कई पड़ोसी राज्यों को पराजित कर दिया, परंतु उसके उत्तराधिकारी अपनी दुर्बलता के कारण मालवा की रक्षा करने

में असमर्थ रहे। अंततोगत्वा गुजरात के बहादुरशाह ने मालवा को अपने अधीन कर लिया। बाद में मालवा दिल्ली केंद्र के अधीन चला गया और शेरशाह ने शुजात खाँ को यहाँ का शासक नियुक्त कर दिया। इसी का पुत्र मलिक वायाजी 'बाज बहादुर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसकी प्रेमिका रूपमती बतलाई जाती है। 1562 ई. में सम्राट अकबर ने इसे अपने राज्य में मिला लिया।

नोट

गुजरात–अपनी समृद्धि और सोमनाथ मंदिर के लिए गुजरात सुप्रसिद्ध रहता आया है। महमूद गजनवी ने संभवत: इसी से आकृष्ट होकर 1025 ई. में अफगानिस्तान से आकर यहाँ लूटपाट मचा दी थी। परंतु बहुत समय तक इस पर किसी का स्थायी आधिपत्य बना न रह सका। 1297 ई. में अलाउद्दीन खिलजी द्व ारा इसे अपने शासनांतर्गत लिए जाने पर यहाँ दिल्ली द्वारा नियुक्त शासकों का शासन चलने लगा था। 1401 ई. में सूबेदार जफर खाँ ने तैमूरलंग द्वारा आक्रमण किए जाने पर अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। परंतु यहाँ का वास्तविक शासक पहले-पहल अहमदशाह बना, जिसने अहमदाबाद नगर की स्थापना की। वह कट्टर धर्मांध था, उसने हिंदुओं का धर्म-परिवर्तन तक कराया। फिर भी, उसकी प्रसिद्धि न्यायप्रिय शासक के रूप में रही है। उसके उत्तराधिकारियों में उसका पोता अहमदशाह (महमूद बेघरा) बड़ा प्रसिद्ध हुआ। कहा जाता है कि वह बड़ा पेटू था । जलपान के नाम पर वह एक प्याला शहद, एक प्याला घी और सौ-डेढ़ सौ केले ले लिया करता था। उसने 1507 ई. में तुर्कों की सहायता से पुर्तगालियों के विरुद्ध एक सेना समुद्र के पश्चिमी तट पर भेजी थी। गुजरात के शासकों में बहादुरशाह (1526-1539) भी प्रसिद्ध है, जिसने कई युद्धों में वीरता प्रदर्शित थी। कालांतर में आपसी वैमनस्य बहुत बढ़ गया और अंततोगत्वा अकबर ने गुजरात को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

जौनपुर–जौनपुर को फीरोजशाह तुगलक ने अपने चचेरे भाई जूनाशाह के स्मारक-स्वरूप गोमती नदी के किनारे बसाया था। फीरोजशाह की मृत्यु होने पर ख्वाजाजहाँ वहाँ का शासक नियुक्त हुआ। महमूद तुगलक ने उसे 'मलिक-उस-शर्क' की पदवी प्रदान की। इससे प्रोत्साहन पाकर उसने कई प्रमुख केंद्रों पर आक्रमण कर दिया। अंत में उसने विद्रोह कर अपने को 'अलावक-ए-आजम' कहना आरंभ कर दिया। शम्सुद्दीन इब्राहीम शाह शर्की उससे भी अधिक सफल शासक सिद्ध हुआ। महमूद तुगलक तक ने उससे सहायता की याचना की थी। वह कला और साहित्य का बड़ा अनुरागी था। हुसैन शाह शर्की भी यहाँ एक शासक हुआ, जिसने दिल्ली सल्तनत के विरुद्ध परास्त होकर बिहार में आश्रय ग्रहण किया और फिर बंगाल जाकर सुल्तान हुसैन शाह की शरण ली। 'मृगावती' के सूफी कवि कुतुबन का वह आश्रयदाता भी रहा। इसके बाद जौनपुर के कई सूफी आश्रयविहीन होकर मालवा से बंगाल तक फैल गए। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में जौनपुर का रोचक वर्णन किया है।

बंगाल–दिल्ली से दूर होने के कारण कई बार आक्रमण करके भी मुस्लिम आक्रमणकारी बंगाल में टिक न सके थे। समय-समय पर केंद्र के प्रति यहाँ विद्रोहाग्नि भड़कती रहती थी। शासकों द्वारा अपने को स्वतंत्र घोषित किए जाने की दशा में उनका प्रजा से मिलकर रहना आवश्यक हो जाता है; फलस्वरूप इस प्रदेश में हिंदू-मुस्लिम-वैमनस्य फैलने के अवसर कम ही आ पाते थे। सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक के शासन-काल में कभी-कभी भेंट दिए जाने पर भी अपने यहाँ स्वतंत्र सुल्तान-जैसा व्यवहार करते थे। अलाउद्दीन हुसैन शाह (1493-1519) अपने शासन-काल में इतना लोकप्रिय हुआ कि भावी आधिपत्य जमाने में उसके वंशजों को कोई कठिनाई नहीं हुई। संगठनकर्त्ता के रूप में वह बहुत सफल रहा, जनता के लिए उसने कई संस्थाएँ स्थापित कीं तथा विद्वानों और धार्मिक पुरुषों को सहायता देनी आरंभ की। 'सत्य पीर' संप्रदाय चलाने का भी श्रेय उसे प्राप्त हुआ जिसका प्रधान उद्देश्य हिंदू-मुस्लिम-एकता स्थापित करना था। उसका पुत्र नुसरत शाह भी सफल शासक रहा, किंतु हुसैनशाही शासकों के बाद बंगाल में कोई टिक न सका। मुगलों पर विजय प्राप्त करने के बाद शेरशाह ने इस प्रदेश पर भी अपना प्रभुत्व जमा लिया।

बहमनी राज्य–मुहम्मद बिन तुगलक के शासन-काल में भड़की दक्षिण की विद्रोहाग्नि का एक परिण ाम इस्माइल मख के सुल्तान बनने में लक्षित हुआ। शांत प्रकृति का होने के कारण उसने हसन गंगू के पक्ष में पद-त्याग कर दिया। हसन गंगू ने 'जफर खाँ' की पदवी ग्रहण कर राज्य की गद्दी संभाली और अब्दुल मुजफ्फर अलाउद्दीन बहमनशाह कहलाकर दौलताबाद का सुल्तान बन बैठा। उसने अपनी राजधानी दौलताबाद से हटाकर गुलबर्गा में स्थापित की। उसके उत्तराधिकारियों में फिरोजशाह सबसे योग्य प्रमाणित हुआ। उसने

साहित्य और विद्वानों को संरक्षण देकर कीर्ति-लाभ किया। उसके बाद उसके भाई अहमदशाह ने बीदर नगर की नींव डालकर 'वली' की उपाधि ग्रहण की और तदनंतर अपने पुत्र जाफर खाँ को राज्य का दायित्व सौंप दिया, जो अलाउद्दीन अहमदशाह के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके बाद हुमायूँ और निजामशाह गद्दीनशीन हुए। 'कदम राव व पदम' प्रेमगाथा के अनुसार अहमदशाह वहाँ 'बहमन वली' हो गए हैं। निजामशाह की अवस्था राज्यारोहण के अवसर पर केवल आठ वर्ष की थी। उसके अभिभावकों में महमूद गावाँ का नाम भी लिया जाता है। उसकी मृत्यु के बाद उसका भाई मुहम्मदशाह शासक बना और उसने शत्रुओं का दमन कर राज्य को समृद्ध बनाने में योगदान दिया। कालांतर में उसे षड्यंत्र द्वारा मार डाला गया। 1518 ई. में यह राज्य बिखरकर नष्ट हो गया और पाँच स्वतंत्र मुस्लिम राज्यों की स्थापना हुई–बरार का इमादशाही, बीजापुर का आदिलशाही, अहमदनगर का निजामशाही, गोलकुंडा का कुतुबशाही और बीदर का वरीदशाही। अंत में ये सभी मुगल-साम्राज्य में अंतर्मुक्त हो गए। आदिलशाही और कुतुबशाही सुल्तान साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्यों में रुचि लेकर यश के भागी बने।

सूर-वंश–शेरशाह द्वारा स्थापित सूर-वंश का अपना पृथक् महत्त्व है। बचपन में शेरशाह का नाम फरीद खान था। उसके पिता सासाराम (बिहार) के जागीरदार थे, किंतु उसकी शिक्षा-दीक्षा जौनपुर में हुई। उसे एक बार शेर मारने के कारण 'शेर खाँ' की पदवी मिल गई। फिर बाबर के संपर्क में आकर उसने बंगाल जीतने में उसे बड़ी सहायता पहुँचाई। बाबर की मृत्यु के बाद उसने गौड़ देश को अधीन कर लिया, पठानों की सहायता से चौसा के पास हुमायूँ को हराया और 'शेरशाह' की उपाधि ग्रहण कर ली। बाद में कन्नौज के युद्ध में उसने हूमायूँ को फिर से हरा दिया, जिससे हुमायूँ को वर्षों तक फारस में पनाह लेनी पड़ी। शेरशाह ने शासन-सुधार की व्यवस्था इस रीति से की कि उसने सम्राट अकबर तक का पथ-प्रदर्शन किया। शेरशाह की मृत्यु 1554 ई. में हुई। उसके बाद उसका पुत्र जलाल-खाँ (सलीमशाह) उसका उत्तराधिकारी बना। उसे कई विद्रोहों का सामना करना पड़ा और 1558 ई. में उसका देहावसान हो गया। हुमायूँ ने बिगड़ती हुई दशा का लाभ उठाकर उसी वर्ष भारत पर आक्रमण कर लाहौर को हस्तगत कर लिया। सूर-वंश के अंतिम सुल्तान सिकंदरशाह के सरहिंद में हार जाने पर हुमायूँ बादशाह बन बैठा।

मुगल-वंश–तैमूर लंग की पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न ज़हीरुद्दीन मुहम्मद बाबर वास्तव में तुर्क-वंशी था, मुगल नहीं। मातृकुल के नाते वह चंगेज खाँ का सगा-संबंधी हो सकता था, परंतु मुगलों के प्रति उसमें सद्भाव का अभाव-सा था। संयोगवश वह उन सम्राटों का पूर्व-पुरुष बन गया जिन्हें 'मुगल' कहकर स्मरण किया जाता है। उसके पिता फरगाना (रूसी तुर्किस्तान) के एक छोटे-से राज्य के अधिपति थे। उनकी मृत्यु के समय बाबर बारह वर्ष का बालक था। इसी अवस्था में वह उत्तराधिकारी बना। अपने शत्रुओं का वह दृढ़तापूर्वक सामना करता रहा और इसी बीच उसने समरकंद को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। उजबेग अमीरों द्वारा अपदस्थ किए जाने पर वह भारत की ओर उन्मुख हुआ और काबुल को जीतकर समरकंद को भी अधिकृत करने की कोशिश की, किंतु असफलता ही उसके हाथ लगी। छोटे-मोटे आक्रमणों द्वारा वह भारत की स्थिति का अध्ययन करता रहा। दिलावर खाँ का आमंत्रण पाकर उसने 1526 ई. में पानीपत-युद्ध में विजय प्राप्त कर ली। प्रसिद्ध है कि सैयदपुरवाली लड़ाई के अवसर पर गुरु नानक देव पकड़े जाकर उसके सम्मुख उपस्थित किए गए थे। दूसरे ही वर्ष राणा सांगा को पराजित कर उसने अपनी स्थिति सुदृढ़ बना ली और चंदेरी दुर्ग पर कब्जा कर लिया। इसके बाद घाघरावाली लड़ाई में पठानों को पराजित कर उसने अपनी विजय-पताका फहराई। उसने राज्य-व्यवस्था को सुधारने की योजना भी बनानी चाही, किंतु शाहजादे हुमायूँ की रुग्णता के कारण उसकी मनोकामना अधूरी रह गई। कहते हैं कि वह रोग-शय्या की तीन बार परिक्रमा कर स्वयं रोगी बन गया और शाहज़ादा तीन दिनों के भीतर ही निरोग होने लगा। फिर बाबर उठ न सका। उसकी मृत्यु के तीसरे दिन हुमायूँ 1530 ई. में बादशाह बन गया। बाबर ने 'बाबरनामा' लिखकर अपनी कुशल लेखनी का परिचय दिया है। यह मात्र आत्मचरित नहीं, तत्कालीन परिस्थिति और वातावरण का परिचायक ग्रंथ भी है। बाबर द्वारा लिखित एक दीवान का भी पता चलता है जिसमें उसकी काव्य-प्रतिभा की चमक है।

कहते हैं कि बाबर ने हुमायूँ से वचन ले लिया था कि वह अपने परिवार के प्रति सद्भावनापूर्ण निष्ठा रखेगा, जिसका पालन वह आजीवन करता रहा। परंतु इसका अनुकूल परिणाम नहीं हुआ। सेना

नोट

के सिपाहियों में भी कलह रहने लगी। इस स्थिति का लाभ बाहरी शत्रुओं ने उठाया। गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने उसे युद्ध में घसीट लिया और बाद में शेरशाह द्वारा कन्नौज की लड़ाई में पराजित होकर वह पॅारस भाग गया। शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् उसने अपने राज्य को पुनः अधिकार में ले लिया। 1566 ई. में पुस्तकालय की सीढ़ियों से उतरते समय अचानक उसके कानों में अजान की आवाज पड़ी। झुकते ही उसके पाँव फिसल गए और वह नीचे गिर पड़ा। यह आघात प्राणांतक सिद्ध हुआ। हुमायूँ की मृत्यु के सत्रहवें दिन उसके पुत्र जलालुद्दीन के नाम 'खुतबा' पढ़ दिया गया। हुमायूँ न केवल साहित्यकारों का सम्मान करता था, अपितु स्वयं भी काव्य रचना करता था। फिर भी, वह उतना व्यवहारकुशल न था।

राज्य-भार ग्रहण करते समय अकबर तेरह वर्ष का बालक था। उसका बचपन बैरम खाँ के संरक्षण में व्यतीत हुआ, जिसके समक्ष जौनपुर ही नहीं, विद्रोही पठानों तक को झुकना पड़ा। कुछ ही दिनों में अकबर ने बैरम खाँ को दायित्व-मुक्त कर दिया और शासन की बागडोर स्वयं संभाल ली। बंगाल, बिहार और गुजरात के विद्रोह को दबाकर उसने कश्मीर पर भी अपना झंडा फहरा दिया। साथ ही चित्तौड़, कालिंजर और गोंडवाना को सफल नहीं होने दिया। फतेहपुर सीकरी के किले का निर्माण भी इसी काल में हुआ। राज्य-विस्तार और आंतरिक शाँति और सुव्यवस्था के लिए वह सदा सचेष्ट रहा। देश को समृद्ध बनाने के साथ ही वह सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिए भी यत्नशील रहा। उसके प्रमुख दरबारी 'नवरत्न' के रूप में प्रसिद्ध थे जिनमें फैजी, अबुलफॅजल, बीरबल, बदायूँनी, तानसेन, रहीम आदि के नाम लिए जाते हैं। इनके सहयोग से उसके राज्य की ख्याति दूर-दूर तक फैली। वह शिक्षित न होकर भी उदार, सहृदय और व्यवहार-कुशल था। उसने कला, संगीत, साहित्य और संस्कृति को यथेष्ट प्रश्रय तथा संरक्षण दिया। उसका राज्य-काल 1605 ई. तक रहा।

अकबर का उत्तराधिकारी जहाँगीर बना, जिसका बचपन का नाम सलीम था। उसने युवराज-काल में पिता के विरुद्ध विद्रोह करना चाहा था, किंतु सफल न हो सका। वह न्यायप्रिय था और प्रजा के दुःख-सुख में उसकी रुचि थी। आगरा के किले की शाह बुर्ज और यमुना-तट पर स्थित किसी प्रस्तर-स्तंभ के बीच उसने 'इंसाफ की जंजीर' बंधवा दी थी, जिसे बजाकर प्रजा बादशाह का ध्यान आकर्षित कर फरियाद कर सकती थी। जहाँगीर ने शेर अफ़गान की हत्या कराके उसकी पत्नी मेहरुन्निसा को अपने हरम में रख लिया, जो आगे चलकर नूरजहाँ के नाम से विख्यात हुई। वह शासन-व्यवस्था में भी भाग लेती थी। जहाँगीर को बंगाल, मेवाड़ और दक्षिण की ओर युद्ध का अभियान करना पड़ा तथा कांगड़ा पर विजय प्राप्त करने में उसे सफलता मिली। 1627 ई. में उसकी मृत्यु हो गई। नूरजहाँ अपने जामाता शहरयार को राज्य का उत्तराधिकारी बनाना चाहती थी, किंतु बादशाह के मरने का समाचार पाकर शाहजहाँ दक्षिण से राजधानी की ओर चल पड़ा और अपने सभी शत्रुओं को परास्त कर 1628 ई. में गद्दीनशीन हो गया।

शासन-सूत्र संभालने के बाद शाहजहाँ को बुंदेलों का सामना करना पड़ा और खाँजहाँ लोधी को राज-मार्ग से हटाना पड़ा। उसने दक्षिण की कई सल्तनतों को जीतकर अपने अधीन किया, जिसमें उसे औरंगजेब से भरपूर सहायता मिली। परंतु कंधार तक आधिपत्य स्थापित करने में उसे सफलता न मिल सकी और दाराशिकोह तथा उसकी सेना अपने अभियान में विफल रही। दक्षिण में सफलता-प्राप्ति से उत्साहित होकर औरंगजेब दाराशिकोह के प्रति द्वेष-भाव रखने लगा था। दारा का हिंदुओं के प्रति सद्भाव भी उसे पसंद न था। अपने मार्ग की बाधा समझकर महत्त्वाकांक्षी औरंगजेब ने क्रमशः अपने सभी भाइयों का अंत कर डाला और 1658 ई. में शाहजहाँ को बंदी बना लिया। अपनी प्यारी बेगम मुमताज महल की मृत्यु के बाद शाहजहाँ ने यमुना किनारे 'ताजमहल' का निर्माण करवाया था। दारा की मृत्यु के उपरांत वह खिन्न रहने लगा था और पुत्री जहाँनारा ही उसके स्नेहाकर्षण का केंद्र रह गई थी। उसका कला और साहित्य-प्रेम प्रसिद्ध है, साथ ही वह शूरवीर और कार्यकुशल भी कम न था।

निष्कर्ष–इस प्रकार भारत के राजनीतिक क्षेत्र में सन् 1343 से 1643 तक की अवधि में दो प्रमुख मुस्लिम वंशों–पठान वंश और मुगल वंश–का आधिपत्य बना रहा। इनमें लोदी, सैयद और तुगलक वंशों के सुल्तान विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इस काल में ऐसे वंशों के व्यक्ति भी समय-समय पर होते आए, जिन्हें किसी-न-किसी विद्रोह के फलस्वरूप अधिकार प्राप्त करने के न्यूनाधिक अवसर प्राप्त होते रहे। मुहम्मद बिन तुगलक को राज्य-विस्तार के कारण अपनी राजधानी उत्तर से दक्षिण की ओर ले जाने की आवश्यकता

अनुभव हुई और योग्य कर्मचारियों के अभाव में उसे यदा-कदा विदेशियों तक से सहयोग एवं सहायता लेनी पड़ी। फिर भी, वह अपने उद्देश्य में अधिक सफल नहीं हो पाया। फीरोजशाह ने सुव्यवस्था को ध्यान में रखकर जागीर-प्रथा को पुनः प्रचलित किया। अपने साम्राज्य का क्षेत्रीय विभाजन कर उसने प्रत्येक क्षेत्र में कई जिले स्थापित किए और उन्हें राज्य-कर्मचारियों को सौंप दिया। परंतु न्याय-व्यवस्था 'कुरान' और 'हदीस' पर ही अवलंबित रही। इन दोनों सुल्तानों ने सैन्य शक्ति की वृद्धि पर ध्यान रखते हुए उसका संचालन-सूत्र अपने हाथ में रखा।

मुगल बादशाह ने पूर्ववर्ती सुल्तानों की शासकीय कमियों से सजग होकर उनसे अपना बचाव किया और शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाया। बाबर की योग्यता और सजगता ने सफल बनने में उसे पर्याप्त सहायता पहुँचाई। वैसे मुगलों में अकबर का राज्य-काल सभी दृष्टियों से सर्वोपरि रहा और उसे अभीष्ट को पाने में बहुत-कुछ सफलता भी मिली। उसने भरसक पक्षपात-रहित बने रहने का प्रयत्न किया। उसके शासन-काल में नागरिकों को सेना की मनसबदारी पाने तक की छूट सुलभ थी। फौजदारी मुकदमों का फैसला काजी लोग किया करते थे, किंतु न्याय का सर्वोच्च अधिकार स्वयं उसकी सत्ता में निहित था। उसकी सेना तत्कालीन सभी उपकरणों से युक्त थी। सम्राट अपने अधिकार का दुरुपयोग कभी नहीं करता था। उसने शेरशाह की योजना से भी लाभ उठाया था। जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी बहुत-कुछ अकबर का अनुसरण किया। अलाउद्दीन खिलजी द्वारा प्रस्तुत की गई और शेरशाह द्वारा पुष्ट की गई सैन्य योजना तथा यातायात की सुव्यवस्था को अकबर ने भी किसी-न-किसी रूप में अपना लिया।

मुहम्मद बिन तुगलक ने अपने राज्य-काल में दोआब-क्षेत्र में कर-वृद्धि लागू करके जनता पर अतिरिक्त भार लाद दिया था। नए सिक्के चलाकर उसने जनता के प्रति उदार भाव का प्रदर्शन करना चाहा, किंतु राज-कोष पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ा और असफलता ही हाथ लगी। फीरोजशाह ने कर-नीति में कुछ संशोधन अवश्य किया, किंतु उसकी धार्मिक कट्टरता ने उसे अधिक सफल नहीं होने दिया। शेरशाह द्वारा खेतों को नापकर युक्तिसंगत नियमों द्वारा मालगुजारी का निर्धारण किया जाना, कर लगाते समय सावधानी बरतना और पक्षपात-रहित होकर कर की वसूली करना उसकी सफलता में सहायक बने। अकबर ने टोडरमल की सहायता से भू-व्यवस्था में आवश्यक संशोधन किए और ऐसी व्यवस्था ला दी कि वह नई लगने के साथ ही लोकप्रिय भी बन गई। राज्य-कर के रूप में पूरी आय का तृतीयांश लिया जाने लगा और दसवर्षीय योजना के अनुसार लगान की सलाना वसूली की जाने लगी। जजिया और तीर्थ-कर उठा दिए गए, जिसका अमुस्लिम जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा। अकबर के शासन-काल में ताँबे, चाँदी और सोने के सिक्कों का प्रचलन हुआ। चाँदीवाला सिक्का शेरशाह के समय से ही 'रुपया' कहा जाने लगा था। टकसालों का सुधार अकबर के शासन-काल में ही संभव हुआ और नामादि का अंकन सुरुचिपूर्ण कलात्मक ढंग से किया जाने लगा। कहा जाता है कि 1630 ई. में अकाल पड़ने पर शाहजहाँ ने अहमदाबाद और बुरहानपुर-जैसे कई नगरों में लंगर की व्यवस्था कर दी थी और प्रत्येक सोमवार को वह दीन-दुखियों में पाँच हजार रुपये का वितरण किया करता था। बिना समझे-बूझे लगान की रकम बढ़ा देने के कारण उसने दीवान सादुल्ला खाँ को बुरी तरह फटकारा था और कर वसूल करने वाले फौजदार को पदच्युत कर दिया था।

8.4.2 सामाजिक स्थिति

भारतीय समाज जिन तत्त्वों के ताने-बाने से निर्मित हुआ है, उनमें वर्णों और जातियों का विशिष्ट स्थान है। समय-समय पर कितनी ही मानव-मंडिलयाँ इस देश में आती रहीं जिनमें अपने-अपने धर्म-विश्वासों, रीति-रस्मों और आचार-विचार-पद्धतियों के संस्कार तथा अभ्यास थे। फलस्वरूप विजित और विजेता में किसी-न-किसी कारण संघर्ष विद्यमान रहता था, परंतु कालांतर में उनमें सामंजस्य की भावना और समन्वय की चेतना लक्षित होने लगी। इतिहास के लिए यह कोई नई बात नहीं है। विजातीय तत्वों को पचा लेना सरल न था, फलस्वरूप दोनों पक्षों के बीच परस्पर संदेह, जुगुप्सा और पवित्रता-अपवित्रता-जनित भेद-भाव बलवान हो उठा। इतिहास साक्षी है कि ऐसी विषम परिस्थितियों में भारतीय मनीषियों द्वारा संघर्ष का अंत करने के लिए समय-समय पर ऐसे समाधान ढूँढ़ने के यत्न होते आए हैं जिनका प्रभाव दीर्घकाल तक रहता आया है। इन मौलिक सिद्धांतों के मूल में सार्वभौम सत्य की प्रेरणा प्रबल रही है। ऋग्वेद-काल से ही ऐसे

विचारों के बीज मिल जाते हैं, जिनका विकास उपनिषद्-काल में पाया जाता है। इस समुचित विचारधारा को अद्वैत-सिद्धांत द्वारा अभिहित किया गया है। परवर्ती मनीषियों को भी यह रिक्त-रूप में मिला।

नोट

प्राचीन काल में व्रात्य, आर्य, नाग, यक्ष, देव, दैत्य, असुर, किन्नर, गंधर्व, विद्याधर आदि मानव-मंडलियाँ समय पाकर देव-योनि तक में समाहित कर ली गई। परवर्ती काल में यही प्रक्रिया शक, हूण, यवन, कंबोज, तुर्क, पारसी, पठान, मंगोल आदि जातियों के साथ घटित हुई। परंतु पैगंबरी धर्म के अनुयायियों में आस्था-विश्वास, आचार-विचार और जीवन-प्रणाली की कुछ ऐसी विशेषताएँ थी जिनसे आपसी मेल-मिलाप में वह गति और तीव्रता न आ सकी, जो अन्यत्र लक्षित हुई थी। मुसलमानों ने व्यावहारिक संबंधों के भेद को प्रकट करने के लिए यहाँ के निवासियों को 'हिंदू' कहा। इस शब्द का प्रथम उल्लेख विजयनगर के राजाओं के पंद्रहवीं शताब्दी वाले शिलालेख में उपलब्ध है। इसके पूर्व कदाचित् इस शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, ईरान के आकेमिनियन बादशाहों के अभिलेखों में 'इंद्र' शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है, जो 'हिंदू' (सिंधु) का ईरानी रूप जान पड़ता है। इस्लाम भ्रातृभाव का संदेश लेकर चला था, उसका द्वार कुछ शर्तों पर सबके लिए खुला था। परंतु हिंदुओं के यहाँ धर्म-परिवर्तन की शास्त्रीय व्यवस्था न थी, इसलिए उनके संस्कार इसके विपरीत पड़ते थे। इस बीच धर्म-परिवर्तन के जो उदाहरण मिलते है, वे धर्म-प्रेरित न होकर स्वार्थ या बलात्कार के परिणाम थे। यद्यपि इसके पूर्व श्रमण-संस्कृति के प्रचार-प्रसार काल में भी ऐसे प्रश्न उपस्थित हुए थे, किंतु उसके उन्नायकों का विरोध कर्मकांडादि व्यावहारिक बातों से अधिक था, सैद्धांतिक प्रश्नों पर कम-से-कम वे विजातीय नहीं लगते थे। कर्मवाद और जन्मांतरवाद में उनकी भी आस्था लगभग वैसी ही थी। अपनी कुलीनता की रक्षा की चिंता तत्कालीन हिंदुओं को अधिक सताने लगी थी और उसकी रक्षा के निमित्त वे स्मृतियों और टीकाओं का सहारा लेने लगे थे। कभी-कभी विधर्मी तथा विजातीय शासकों द्वारा हिंदू प्रजा के प्रति क्रूर दुर्व्यवहार तक हो जाया करते थे जिससे आतंकित होकर उन्हें अपने को मुस्लिम प्रजा से भिन्न मानने को बाध्य होना पड़ता था। फलस्वरूप इस्लाम का भ्रातृभाव-संदेश यहाँ उतना प्रभावकारी सिद्ध न हो सके।

हिंदू समाज में भी वर्णाश्रम धर्म का उचित पालन नहीं हो पाता था, फलस्वरूप जातियों– उपजातियों की संख्या में वृद्धि हो गई थी और उनके पारस्परिक व्यवहार में आत्मीयता नहीं रह गई थी। वर्ण-व्यवस्था में आस्था न रखने वालों में भी किसी-न-किसी प्रकार का आपसी भेद-भाव बना हुआ था। इब्नबतूता के अनुसार इन दिनों दास-प्रथा भी प्रचलित थी। हिंदू कन्याओं को सम्पन्न मुसलमान अधिकाधिक संख्या में क्रय करके अपने घरों में रख लिया करते थे। कुलीन नारियों का अपहरण कराके अमीर लोग अपना मनोरंजन किया करते थे। मुहम्मद बिन तुगलक ने चीन-सम्राट के पास भारतीय काफिरों में एक-एक सौ स्त्री-पुरुषों को सौगात के रूप में भेजा था। इसके साथ ही ऐसे हिंदू राजाओं का अभाव न था जो मुस्लिम महिलाओं, विशेषत: सैयद स्त्रियों को दासी-रूप में अपने यहाँ लाकर नृत्य-गीत की शिक्षा दिलवाया करते थे। तत्कालीन स्मृतियों के अनुसार दासों की चार कोटियाँ थी–जन्मजात, क्रीत, अपहृत या कहीं से प्राप्त, अपने यहाँ उत्पन्न। समाज में बहुविवाह या पुनर्विवाह की प्रथाएँ भी प्रचलित थीं। विदेशी पर्यटकों ने तत्कालीन सती-प्रथा का भी विवरण दिया है। ओडरिक (1321-1322) नामक पादरी ने दक्षिण भारत में प्रचलित सती-प्रथा का उल्लेख किया है, जिसके अनुसर पुत्रवती विधवा को 'सती' बनने का अधिकार नहीं था। इब्नबतूता ने लिखा है कि सती होने के लिए सुल्तान की पूर्व-स्वीकृति अनिवार्य थी। स्त्रियों को पुरुषों-जैसा स्तर तथा सम्मान प्राप्त न था। परदा-प्रथा उन दिनों की आवश्यकता बन गई थी। फिर भी, स्त्री-शिक्षा की व्यवस्था थी और कला-साहित्य के निर्माण में स्त्रियों का योगदान रहा करता था। हिंदुओं में संयुक्त परिवार पाए जाते थे, जो सामाजिक जीवन के मूलाधार थे। छुआछूत के नियम इतने कठोर थे कि शुद्रादि जातियों तक में परस्पर भेद-भाव बरता जाने लगा था।

भारतीय मुस्लिम समाज की अवस्था हिंदुओं से अधिक भिन्न न थी। धर्मांतरित मुसलमानों के हिंदू-संस्कार धर्म-परिवर्तन के साथ ही धुल नहीं गए थे। विशेषत: जबकि वे बलात् अथवा स्वार्थवश धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य हुए थे। आक्रमणकारी मुसलमानों के वंशजों में भी कालांतर में सद्भाव और सहिष्णुता के भाव उचित होने लगे। इस प्रवृत्ति को सूफी साधकों का प्रश्रय प्राप्त था। उन दिनों इस्लाम-प्रचार की यह विशेषता बन गई थी कि तलवार द्वारा आतंक उत्पन्न करने के बाद प्रेम की पट्टी बाँध दी जाए।

उस समय सुल्तान का पद सर्वोपरि था और उलेमा तथा उमरा का स्थान बाद में आता था। इनमें से द्वितीय वर्ग के अंतर्गत ईरान, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान तथा अरब के मूल निवासियों के नाम लिए जा सकते हैं जिन्हें क्रमशः शेख, मुगल, पठान और सैयद की संज्ञा दी जाने लगी थी। इन्हें अपने से बाहरवालों से संबंध स्थापित करना स्वीकार न था। शेख अपने पांडित्य और सुसंस्कृति के लिए प्रसिद्ध थे और अधिकतर शिया-संप्रदाय की ओर उन्मुख थे। परंतु तुर्किस्तानवाले मुगल सुन्नी संप्रदाय से संबद्ध थे। इनमें से ही कुछ सुल्तान के पद पर प्रतिष्ठित होते रहते थे। अफगानी पठान अपने शौर्य, साहस, स्वाभिमान और सीधेपन के लिए प्रसिद्ध थे। फिर भी, कभी-कभी इनमें दिल्ली-शासन के प्रति विद्रोह की भावना जाग्रत हो जाया करती थी क्योंकि ये अपने को सर्वप्रथम मुस्लिम विजेता मानते थे। सैयद अल्पसंख्यक होने के साथ ही उतने वीर और साहसी न थे। दिल्ली पर अधिकार करके भी वे अधिक समय तक टिक न सके। शेखों और सैयदों में से ही उलेमा हुआ करते थे। खेतिहर, मज़दूर, व्यापारी और नौकरी-पेशा मुसलमानों में भी परस्पर भेद-भाव की कमी न थी। मुस्लिम महिलाओं की स्थिति हिंदू स्त्रियों से अधिक भिन्न न थी। बहुविवाह-प्रथा के कारण हरमों में इनकी दुर्गति हुआ करती थी। मुस्लिम समाज अपने मूल रूप में न रह गया था और उसका एक प्रकार से भारतीयकरण हो गया था। परंतु इस काल तक भारत में उपस्थिति ईसाइयों का समाज पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ सका और पारसी तथा यहूदी अपनी-अपनी सीमाओं में ही सीमित रहे।

दैनिक जीवन, रीति-रस्म, रहन-सहन, पर्व-त्यौहार आदि की दृष्टि से तत्कालीन भारतीय समाज सुविधा- संपन्न और असुविधा-ग्रस्त इन दो वर्गों में विभक्त था। प्रथम वर्ग में राजा-महाराजा, सुल्तान, अमीर, सामंत और सेठ-साहूकार आते थे। जिनमें मनमाने ढंग से वैभव-प्रदर्शन की उल्लासपूर्ण प्रवृत्ति पाई जाती थी। द्वितीय वर्ग में किसान, मजदूर, सैनिक, राज्य-कर्मचारी और घरेलू उद्योग-धंधों में लगी सामान्य जनता थी जो प्रथा-परपंरा का पालन कर संतोष की साँस ले लिया करती थी। अमीर और सामंत सूती, रेशमी अथवा कार्मिक (कढ़े हुए) वस्त्र पहनते थे एवं बहुमूल्य नगीनों से जड़ी सुनहली अंगूठियाँ धारण करते थे। उनकी पत्नियाँ रत्नजड़ित सुनहले कंगन तथा मूँगाजड़ित केयूर धारण करती थीं। समाज में सुव्यवस्था लाने के यत्न होते रहते थे। रूसी व्यापारी अफनेसियन निकितिन (1470 ई.) के अनुसार बहमनी राज्य के सुयोग्य वजीर महमूद गावाँ (1405-1481) के समय शासकीय व्यवस्था प्रशंसनीय थी। भूमि की पैदावार प्रचुर थी, सड़कें लुटेरों के आतंक से रहित थीं तथा राजधानी भव्य नगर के रूप में खुशहाल दिखाई देती थी। पुर्तगाली बारबोसा (1500-1516) के अनुसार जहाँ उमरा और बादशाह वर्ग महलों में निवास करते थे, वहाँ कुछ लोग गलियों में निर्मित मकानों में रहते थे; जिनके सामने थोड़ी खुली जगह भी रहती थी। शेष जनता के भाग्य में झोंपड़ियों में रहना बदा था। मुगलों के शासनकाल के विषय में पेलसर्ट नाम लेखक ने लिखा है कि उस समय समाज के भीतर तीन ऐसे वर्ग–श्रमिक, नौकर और दुकानदार–थे जिन्हें न तो कोई स्वेच्छापूर्वक कार्य करने का अवकाश था, न यथेष्ट पारिश्रमिक ही मिला करता था। दुकानदारों को अपनी चीजें छिपाकर रखनी पड़ती थीं कि कहीं क्रूर कर्मचारियों की दृष्टि न पड़ जाए। तत्कालीन साधु-समाज पर भी पाखंड की काली छाया मंडराने लगी थी। गोस्वामी तुलसीदास-कृत 'कवितावली' की निम्नलिखित पंक्तियों से तत्कालीन स्थिति का स्पष्ट परिचय मिलता है–

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख भली,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सो कहाँ जाई, का करी।।

8.4.3 सांस्कृतिक स्थिति

सांस्कृतिक चेतना की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति सार्वभौम सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित धार्मिक भावना और दार्शनिक चिंतनधारा के माध्यम से हुई है। कला, शिल्प साहित्य और संगीत इन्हीं की आनुषंगिक उपलब्धियाँ हैं। इन सबका क्षेत्र विशाल मानव-समाज है जिसकी प्रेरणा और प्रसाद से मनुष्य जीवन-यापन करता है। भारतीय जीवन में समय-समय पर विदेशी विजातीय तत्त्वों के आते रहने के कारण परस्पर संघात होते रहे हैं। परंतु इन्हीं से होकर ऐसी जीवनी-शक्ति का संचार भी होता रहा है कि हम डूबते-डूबते भी

नोट

उबरते चले आए हैं, निष्प्रभ या निस्तेज न होकर नव-जीवन की अरुणिमा से महिमा-मंडित होते रहे हैं। इन सबके मूल में हमारी समन्वय-साधना की प्रवृत्ति उजागर रही है, जो ब्राह्मण-युग (ई. पू. 800 से ई. पू. 600 तक) से ही उत्तर भारत में व्यक्त हो चुकी थी। दक्षिण भारत में यह प्रवृत्ति बाद में उभरी। वैदिक देवी-देवताओं के बाह्य विधानों से बिदककर श्रमण-संस्कृति के उन्नायकों ने जीवन का नया पथ खोज निकालने का यत्न आरंभ किया, परंतु गुप्त साम्राज्य की स्थापना के अनंतर दोनों ही क्षयमान हो गए। मौर्य-साम्राज्य के बिखराव के पश्चात् ब्राह्मणवाद का नए ओज और तेज के साथ अभ्युत्थान हुआ। पुष्यमित्र के शासन-काल में समाज को सुव्यवस्थित करने के लिए सूत्रों-स्मृतियों की व्याख्या तथा रचना होने लगी और गौ-ब्राह्मणों की सुरक्षा की व्यवस्था की गई।

परवर्ती गुप्त काल में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ और देवी-देवताओं तथा देवालयों की स्थापना द्वारा लुप्तप्राय धर्म-व्यवस्था को पुनर्जीवित किया गया। उन दिनों वैष्णव धर्म को विशेष प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिला और स्मृति-ग्रंथों में लोक-प्रचलित विश्वासों तथा मान्यताओं को भी स्थान दिया गया। ब्राह्मणेतर श्रमणादि तत्त्वों से समन्वित ब्राह्मणवाद को विद्वानों ने नवब्राह्मणवाद कहा; जिसका स्वरूप वैदिक परंपरा से विच्छिन्न होकर भी भिन्न अवश्य था। सत्य तो यह है कि ब्राह्मणवाद का भी अमिश्रित रूप में पुनरुत्थान नहीं हुआ था। दूसरों के अनेक मत-विश्वास उसमें समाहित थे। इसी प्रकार नवब्राह्मणवाद में भी ब्राह्मणवाद के अतिरिक्त श्रमण, द्रविड़ तथा अन्य आदिवासियों के मत और मान्यताएँ परस्पर एकीभूत हो गई थीं। इसकी कुछ सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार थीं–1. धर्मविशेष का लौकिकीकरण, 2. अवतारवाद की स्वीकृति, 3. देवालयों में देव-प्रतीकों की पूजा, 4. तीर्थादि की स्थापना, 5. धर्म के भारतीय स्वरूप का संरक्षण। अधिकाँश पुराणों की रचना का भी यही काल है। मध्यकालीन हिंदू जीवन-प्रणाली पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। पुराणकारों ने समन्वय-साधना की प्रवृत्ति को पुनर्जाग्रत किया। परंपरा, दृष्टि-भेद, रुचि-वैविध्य, देश-काल तथा तत्कालीन समाज से प्रेरणा ग्रहण कर उन्होंने तदनुरूप पूजा-उपासना तथा कर्मकाण्डीय पद्धतियों को अपनाकर उनमें दार्शनिकता का पुट दे दिया। मूर्ति-पूजा, तीर्थाटन अवतारवाद, गौ-ब्राह्मण-रक्षा, धर्मशास्त्रों का सम्मान और कर्म-फल में विश्वास पौराणिक धर्म की प्रमुख विशेषताएँ थीं, जिनमें लोक-विश्वास का भी योगदान रहा। साधु-संन्यासियों का सम्मान और स्वर्ग-नरक, श्राद्ध-पिंडदान आदि इस युग की अन्य उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं जिनकी धुरी पर हिंदू जीवन-चक्र चलता रहा और इस्लाम के भारत-प्रवेश के पूर्व तक अविकृत रूप में प्रचलित रहा।

मध्यकालीन हिंदू-समाज के दो पक्ष हमारे सामने आते हैं–एक वह जो शास्त्रों का समर्थक है और दूसरा वह जो परंपरागत विश्वासों तथा मान्यताओं अथवा स्वानुभूति का पक्षधर है। वह दूसरा पक्ष ही पौराणिक पक्ष है। परंतु हम बहुधा यह पाते हैं कि दोनों पक्षों में परस्पर अंतरावलंबन है। कभी जन-घोषित विश्वास शास्त्र-सम्मत बन जाते हैं, तो कभी शास्त्रविहित मान्यताएँ जनता द्वारा अस्वीकृत हो जाती हैं। शास्त्र की दुहाई देने की अपेक्षा स्वानुभूति पर निर्भर करना अधिक श्रेयस्कर है। इसी आस्था के कारण विपक्षी अथवा विरोधी के प्रति सहिष्णुता-भाव का प्रादुर्भाव होता है और न्यायोचित उदार व्यवहार का शुभारंभ होता है। हमारे यहाँ आध्यात्मिक उपलब्धि को जीवन का परिष्कार माना गया है, जिसके कारण धर्मानुभूति और दार्शनिक चिंतन का अन्योन्याश्रय संबंध जुड़ गया है। उपनिषद् भारतीय दर्शन के उपजीव्य हैं और इसी आधार पर वेदांत भी विकसित हुआ है। औपनिषदिक विचारों में भी सर्वत्र मतैक्य नहीं है। इनमें समन्वय की स्थापना के लिए बादरायण (300 ई.) ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की, जिस पर शंकराचार्य (788-820 ई.) ने 'शारीरिक भाष्य' लिखा। इस भाष्य में निरूपित व्याख्या का इतना महत्त्व हो गया कि सर्वसाधारण में वेदांत का अर्थ केवल शंकर-वेदांत समझा जाने लगा। इसमें शब्द-प्रमाण को मुख्य मानकर उसे तर्क द्वारा पुष्ट करने का यत्न किया गया है। शंकराचार्य की ही भाँति कुमारिल भट्ट ने हमारी चिंतनधारा को दूर तक प्रभावित किया है। परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं मतों की व्याख्या-प्रतिव्याख्या के रूप में विशिष्टाद्वैत, केवलाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि मतों की स्थापना की। इन सभी में ईश्वर को निरपेक्ष मानकर उसकी भक्ति का प्रतिपादन किया गया है, परंतु आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि के उन्मुक्त प्राय: ज्यों-के-त्यों रह गए हैं।

ईश्वर और मनुष्य के बीच संबंध स्थापित करने का एक माध्यम धर्म है, जाति, कुल, देश-काल और परिस्थितियों से निरपेक्ष होकर नैतिक दायित्व का निर्वाह करना 'धर्म' है। धर्माचार अथवा नैतिकता

समाजपरक है और धर्म-साधना व्यक्तिनिष्ठ। साध्य और साधक का एकीकरण साधन के माध्यम से होता है। साधना का विकास रुचि, शिक्षा और संस्कार के अनुसार कई रूपों में होता है। स्थूल रूप में साधना के तीन अंग हैं–देवाराधना, संस्कार-मूलक क्रिया और नित्य-नैमित्तिक कर्म। देवाराधन के भी दो रूप हैं–आत्मविश्वासमूलक योग और आराध्यानुग्रहमूलक भक्ति। आत्म-रक्षा की वृत्ति ने मनुष्य को देवाराधन की ओर प्रवृत्त किया, फलस्वरूप कल्याणकारी शक्तियों को व्यक्तित्व प्रदान करके उन्हें मानवीय इच्छाओं, उद्देश्यों, विचारों तथा संवेदनाओं से संपन्न तथा भावापन्न मान लिया गया। भगवान् के सगुण और साकार रूप का इसी प्रकार विकास हुआ।

शक्ति-संपन्न समर्थ व्यक्तियों की मरणोत्तरकालीन आत्माओं को अलौकिकता प्रदान कर उन्हें कल्याण ाप्रद शक्तियों से संबद्ध कर देने की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। कुल-देवता और ग्राम-देवता इन्हीं की उपज हैं, जिनके प्रतीक पिंड तथा पदार्थ बने। इसी प्रकार सशक्त तथा सहायक पशु-पक्षियों की आत्माओं से टोटेमवाद और फिटिशवाद का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्हें भौतिक आपदाओं का कारण मान लिया गया और उनकी तुष्टि के लिए यातु-विद्या तथा जटिल साधना-विधान का विस्तार हुआ। संस्कारग्रस्त जनता में आज भी भूत-प्रेत, पिशाच, चुड़ैल, डाकिनी-शाकिनी तथा उनसे त्राण दिलाने वाले ओझा आदि के झाड़-फूँक, गंडा-तावीज और मंत्र-तंत्र की मान्यता पाई जाती है। साध्य की अपेक्षा साधना पर अधिक बल दिया जाने लगा है, जो कभी-कभी जड़ता को जन्म देती है। इसीलिए साधना के विकृत और विस्तृत रूप (कर्मकांडादि) की आलोचना उपनिषद्'-काल से लेकर श्रमण-युग तक होती रही, जिसे हम संतवाणियों में मुखर पाते हैं।

मध्यकाल में हिंदू-सामाज की वृहत्तर इकाई गाँव था और लघुत्तर इकाई परिवार, जो जीविका के सम्मिलित साधनों से युक्त था। अयोग्य पति की पत्नी होकर भी नारी संबंध-निर्वाह करने को बाध्य थी। सतीत्व के यथार्थ गौरव से अनभिज्ञ नारी और उसकी संतान से बना हिंदू-समाज मध्यकाल की विडंबना रहा।

उपर्युक्त विकास-क्रम को ध्यान में रखे बिना मध्यकालीन संस्कृति की प्रवृत्ति और परिवेश को ठीक-ठीक समझ पाना प्रायः असंभव है। इस काल में धर्म-साधनों की बाढ़-सी आ गई और गुह्य साधनाओं के अंतर्गत कृच्छ साधनाएँ भी प्रवेश पा गई। धर्माचार के नाम पर अनाचार, मिथ्याचार और व्यभिचार तक पलने लग गया। फलस्वरूप ज्ञान-चर्चा की आड़ में पाखंड को प्रश्रय मिलने लगा और समाज में एक प्रकार की अराजकता फैल गई। बाह्याडंबर तथा कर्मकांडादि बाह्य विधान के प्रति व्यंग्य किए जाने लगे। ऐसी परिस्थिति में गुरु गोरखनाथ ने बाह्य साधनों को गौण ठहराकर मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता पर अधिक बल देना उचित समझा–''अवधू मन चंगा तो कठौती में गंगा, बाध्या मेल्हा तो जगत्र चेला।'' कबीरादि संतों की चेतना भी प्रकारांतर से मन की महत्ता को स्वीकार करती जान पड़ती है–

कहे कबीर कृपा भई, गुरु ज्ञान कहा समझाई।
हृदय श्री हरि भेटिये, जो मन अनतै नहि जाई।।

मध्यकालीन धर्म साधना में प्रायः सभी पूर्ववर्ती प्रमुख धर्म-साधनाएँ किसी-न-किसी रूप में पाई जाती हैं–अपने मूल रूप में अथवा किंचित परिवर्तन के साथ। बृहदारण्यकोपनिषद् (2/4/11) के वेदमार्गी 'एकायन' धर्म तथा लोकधर्मी 'लोकायन' धर्म जैसी कुछ अन्य धर्म-साधनाएँ भी अवश्य रही होंगी, जिनके नाम लोग भूलने लगे होंगे। फिर भी शैव, शाक्त, भागवत (वैष्णव), सौर, गाणपत्य-जैसे प्रमुख धर्मों के न्यूनाधिक अनुयायी पाए जाते थे जिनमें ज्ञान, योग-तंत्र अथवा भक्ति की प्रवृतियाँ प्रचलित थीं। ज्ञान में तप और चिंतन-मनन की प्रधानता थी और योग-तंत्र में क्रियात्मक विशेषताएँ पाई जाती थीं। शिव आदि योगी माने जाते थे और पूर्व-मध्यकाल में शैव धर्म भारतव्यापी बन गया था जिसे राजाश्रय के अतिरिक्त लोकाश्रय भी प्राप्त था। इसके प्रमाण शिलालेखों द्वारा भी सुलभ हैं। योग का किसी समय इतना प्रबल प्रभाव था कि ज्ञान और भक्ति के साथ 'योग' शब्द का जोड़ा जाना आवश्यक समझा जाने लगा था। भक्ति और ज्ञान-साधना में योग का कोई-न-कोई तत्त्व ढूँढ़ निकालना कठिन नहीं है। यहाँ तक कि बौद्ध-जैन तक इससे अप्रभावित न रह सके थे। भक्ति मुख्यतः भावनात्मक थी। अन्य धर्मों में भी इसका एक-न-एक रूप पाया जा सकता था। परंतु इसका जितना बहुविध विकसित रूप वैष्णव धर्म–विशेषतः भगवत संप्रदाय–में लक्षित हुआ उतना कदाचित् अन्यत्र संभव न हुआ। विभिन्न धर्मों अथवा संप्रदायों के बीच भी अनेक धर्मों या उप-संप्रदायों का बनना मध्यकालीन विशेषता बन गई थी।

नोट

मध्यकाल में अरुचि और संस्कार का प्राधान्य था। इस कारण बहुधा सामंजस्य बिगड़ जाता था और संतुलन बनाए रखने के लिए बार-बार समन्वय की ओर उन्मुख होना पड़ता था। समन्वय हमारे संस्कार में था, इसलिए उसे लाने में विघ्न-बाधाओं के रहते भी दुर्लघ्य कठिनाई नहीं होती थी। वैदिक वाङ्मय में इसके बीज मिलते हैं। 'तंत्रालोक' में भी इसका उल्लेख है–''एष रामों व्यापकोऽत्र शिवः परम कारणम्।'' (88/1) 'शक्ति-संगम-तंत्र' का यह उद्धरण भी ध्यातव्य है–

कदाचिद्वात्म ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा।

लोक सम्मोहनार्थाय स्वरूपं विभ्रती परा।

'दुर्गासप्तशती' (11/5) में भी भगवती दुर्गा और वैष्णव को अभिन्न ठहराया गया है। 'अध्यात्म रामायण' में राम तथा शिव के बीच परस्पर भक्ति प्रदर्शित की गई है। यही भावना 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में शिव और श्रीकृष्ण के मध्य व्यक्त हुई है। परवर्ती रचनाओं में ऐसे कई उदाहरण उपलब्ध हैं। 'साधनमाला' में वर्णित बौद्ध देवता पदनृत्तेश्वर भी शिव का रूपांतर ही जान पड़ता है। इसी प्रकार उड़ीसा के पंचसखाओं का 'शून्य पुरुष' ब्राह्मण-श्रमण-संस्कृतियों के मिलन की ओर संकेत करता है। मध्यप्रदेश के नाग राजाओं द्वारा अवलोकितेश्वर की पूजा शिव-पूजन की भाँति हुआ करती थी। एलोरा के समीपस्थ वेरूल के कैलास-मंदिर में शिव की मूर्ति के शीर्ष-स्थान पर बोधिवृक्ष स्थित है। चंबा-नरेश अजयपाल के राज्य-काल में उत्कीर्ण ब्रह्मा, वरुण और शिव के साथ बुद्ध भी हैं। खजुराहो से उपलब्ध कोक्कल के वैद्यनाथ मंदिरवाले शिलालेख में ब्रह्मा, जिन, बुद्ध तथा वामन को शिव का स्वरूप कहा गया है। इसी प्रकार हरिहर-पूजन में भी शैव-वैष्णव-धारा का संगम लक्षित होता है। संक्षेप में, ऐसे अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनसे समन्वयात्मक प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। भक्ति-आंदोलन का विकास इसी पृष्ठभूमि में हुआ था।

8.5. साहित्यिक विशेषताएँ

भक्तिकाल की कतिपय प्रमुख विशेषताओं का वर्णन इस प्रकार है, जिनके आधार पर भक्तिकाल को हिंदी-साहित्य का स्वर्ण युग कहा जा सकता है–

(*i*) **राज्याश्रय का त्याग**–वीरगाथा काल में सभी कवि राज्याश्रित थे, परंतु भक्तिकाल कवियों ने राज्याश्रय को स्वीकार नहीं किया। सभी कवियों ने स्वतंत्र रहकर काव्य का सृजन किया। इन कवियों ने किसी राजा की स्तुति या प्रशंसा तक नहीं की। केवल जायसी ने तत्कालीन बादशाह की स्तुति में कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं।

(*ii*) **स्वान्तः सुखाय-परजनहिताय रचना**–भक्तिकाल के कवियों ने जो भी रचनाएँ कीं, वे स्वांतः सुखाय (अपने अंतःकरण के सुख के लिए) थीं। यद्यपि ये रचनाएँ उन्होंने अपने सुख के लिए लिखीं थीं, परंतु ये दूसरों के लिए भी कल्याणकारी सिद्ध हुईं। उनके ग्रंथों में दिए गए धर्म उपदेश, नीति के सिद्धांत, भगवान के विविध क्रियाकलाप सभी को सद्मार्ग की ओर प्रेरित करने वाले सिद्ध हुए। इसलिए ये रचनाएँ स्वांतःसुखाय होते हुए भी परजनहिताय थीं।

(*iii*) **भक्ति का प्राधान्य**–इस काल में भक्ति का प्राधान्य रहा। सभी कवियों ने परमात्मा का भक्ति संदेश दिया। इन कवियों ने भक्ति के विविध सोपानों और सिद्धांतों का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। दास्य और सखा भाव की भक्ति के साथ-साथ नवधा भक्ति (श्रवण, कीर्तन, नाम, जप आदि) का संकेत भी इसमें मिलता है। प्रेम, ज्ञान और भक्ति का सुंदर समन्वय इस युग की देन है। **तुलसी** कहते हैं–

ज्ञानहिं भगतहिं नहिं कछु भेदा।

(*iv*) **समन्वय की भावना**–इस युग की सबसे बड़ी विशेषता समन्वय की भावना है। इस काल के कवियों ने सगुण-निर्गुण, कर्म-भक्ति, शैव-वैष्णव, राजा-प्रजा, निर्धन-धनी, विभिन्न संप्रदायों-मतों और विभिन्न काव्य-शैलियों में सुंदर समन्वय स्थापित किया है। तुलसी ने स्पष्ट कहा है।

अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भवसंभव खेदा।।

(*v*) **भारतीय संस्कृति की रक्षा**–भक्तिकालीन कवियों ने भारतीय धर्म और संस्कृति की रक्षा की। मुसलमानों के अत्याचारों से जो भारतीय संस्कृति लुप्तप्राय हो गई थी, उसको इन कवियों ने जीवित रखा। भारतीय संस्कृति का उन्नत रूप उन्होंने जनता के समक्ष प्रस्तुत किया, जिससे वह श्रेष्ठ आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण कर सके।

(*vi*) **शृंगार तथा शांत रस की प्रधानता**–भक्तिकालीन साहित्य में मुख्यत: शृंगार व शांत रस का प्रयोग हुआ है। आत्मा-परमात्मा के विरह-मिलन, सौंदर्य-चित्रण में शृंगार रस है तो भक्ति के उपदेशों, संदेशों एवं सिद्धांतों में शांत रस। वैसे तुलसी ने अपने काव्य में सभी रसों का प्रयोग किया है।

(*vi*) **मुक्तक तथा प्रबंधकाव्य**–इस काल में प्रबंध व मुक्तक दोनों प्रकार के काव्य लिखे गए। जायसी का 'पद्मावत' व तुलसी का 'श्रीरामचरितमानस' श्रेष्ठ प्रबंधकाव्य हैं। सूर और कबीर ने मुक्तक काव्य की रचना की। तुलसी ने भी अनेक मुक्तक काव्य लिखे।

(*vii*) **गुरु की महत्ता**–भक्तिकाल में गुरु की महत्ता सर्वोपरि मानी गई है। गुरु को इन्होंने मार्गदर्शक मानते हुए परमात्मा से भी बढ़कर माना। यह सत्य है कि जीवन के विभिन्न संघर्षों से उद्धार पाने का मार्ग गुरु ने ही बताया है और गुरु ही साधक को परमात्मा के द्वार तक पहुँचाता है। इसीलिए **कबीर** कहते हैं–

सतगुरु की महिमा अनँत अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार।।

(*viii*) **सामाजिक विषमता का खंडन**–भक्तिकालीन कवियों ने समाज में फैली विभिन्न कुरीतियों, आडंबरों, अंधविश्वासों और ऊँच-नीच के भेदभावों का खंडन किया। इन्होंने सबको एक ही परमात्मा का अंश माना और कहा कि जो भी परमात्मा का ध्यान-जप करता है। वही श्रेष्ठ है। इन कवियों ने मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा की और समाज के कुत्सित रूप को बदलने की पूर्णरूपेण चेष्टा की।

(*x*) **भाषा**–भक्तिकाल में ब्रज व अवधी भाषा का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ। संतों ने मिश्रित सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग किया तो जायसी ने अवधी का। तुलसी ने अवधी व ब्रज दोनों भाषाओं में काव्य का सृजन किया। सूर आदि ने ब्रजभाषा को स्वीकार। इस प्रकार ब्रज और अवधी ही मुख्य भाषाएँ रहीं।

(*xi*) **छंद**–इस काल में दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, पद, सोरठा, बरवै आदि विभिन्न छंदों का प्रयोग किया गया।

(*xii*) **अलंकार**–भक्तिकाल के कवियों ने अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग किया है। अनुप्रास, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, व्यतिरेक, अर्थांरन्यास आदि का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है।

(*xiii*) **संगीतात्मकता**–भक्तिकाल का संपूर्ण साहित्य संगीतात्मकता से परिपूर्ण है। दोहा चौपाई आदि तो गेय हैं ही, पदों में सबसे अधिक यही गुण विद्यमान हैं। अर्थात सभी पद किसी-न-किसी राग-रागिनी पर आधारित हैं।

(*xiv*) **अमर साहित्य**–भक्तिकाल का साहित्य अमर साहित्य है। अमर से अभिप्राय यह है कि इस साहित्य का महत्त्व आज भी है। इस समय की परिस्थितियों के लिए जो यह उपयोगी और कल्याणकारी था ही, आज भी यह हमें प्रभुभक्ति की पावन गंगा में अवगाहन कराता रहता है। तुलसी का 'श्रीरामचरितमानस' आज भी प्रात: स्मरणीय ग्रंथ है। कबीर के उपदेश आज भी हमें ज्ञान प्रदान करते हैं। जायसी और सूर का काव्य आज भी पाठकों के हृदय में मधुरता का समावेश कर देता है। निश्चय ही यह अमर साहित्य है।

8.5.1 निष्कर्ष

नोट

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्तिकालीन काव्य सर्वश्रेष्ठ काव्य है। भाव और शिल्प की दृष्टि से यह काव्य श्रेष्ठतम है। परमात्मा की भक्ति का पावन संदेश देने वाला यह काव्य हिंदी-साहित्य की अमूल्य निधि है। इस काल के कवियों ने जिस साहित्य का सृजन किया वह अपनी विशेषताओं के कारण आज भी अमर है। इस काल की विभिन्न विशेषताएँ ही इसे स्वर्गयुग की संज्ञा प्रदान कराती है। **डॉ. श्यामसुंदर दास** का कथन अक्षरश: सत्य है–"जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे रससिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्यवाणी उनके अंत:करणों से निकलकर देश के कोने-कोने में फैली थी, उस हिंदी साहित्य के इतिहास में सामान्यत: भक्तियुग कहते हैं। निश्चय ही यह हिंदी-साहित्य का स्वर्णयुग था।"

8.6. सारांश (Summary)

- भक्ति-भावना के संदर्भ में पांचरात्र भी कम उल्लेखनीय नहीं हैं। उनका मुख्य उद्देश्य भक्ति-मार्ग के साधन निरूपण करना रहा है। संहिताओं ने देवालयों के निर्माण, उनमें आराध्य देवी की प्रतिष्ठा और विधिवत् पूजन-अर्चन की व्यवस्था दी थी। इससे अवतारवाद को प्रचुर प्रश्रय मिला। ईसाई मत और इस्लाम धर्म की देन के रूप में भक्ति की स्थापना बहुत पहले ही अप्रमाणित हो चुकी है।
- भारत के राजनीतिक क्षेत्र में सन् 1343 से 1643 तक की अवधि में दो प्रमुख मुस्लिम वंशों–पठान वंश और मुगल वंश–का आधिपत्य बना रहा। इनमें लोदी, सैयद और तुगलक वंशों के सुल्तान विशेषत: उल्लेखनीय हैं। इस काल में ऐसे वंशों के व्यक्ति भी समय-समय पर होते आए, जिन्हें किसी-न-किसी विद्रोह के फलस्वरूप अधिकार प्राप्त करने के न्यूनाधिक अवसर प्राप्त होते रहे।
- हिंदी साहित्य में भक्ति आंदोलन का प्रारंभ दक्षिण भारत के आलवार भक्तों की परंपरा में हुआ। उत्तर भारत की राजनीतिक परिस्थितियों ने उस आंदोलन के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। मुस्लिम शासकों की धर्मांधता और इस्लाम के बलात् प्रचार एवं क्रूर धार्मिक नीति ने भी उत्तर भारत में हिंदू जनता में भक्ति भाव को दृढ़ता प्रदान की।

8.7. शब्दकोश (Keywords)

1. **पथ-प्रदर्शन**–रास्ता दिखाना, मार्ग बतलाना
2. **विद्यमान**–मौजूद, उपस्थित
3. **समीपस्थ**–नजदीक, पास में होना

8.8. अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. पूर्व-मध्यकाल में गुजरात, जौनपुर, बंगाल और बहमनी राज्यों की स्थिति का वर्णन कीजिए।
2. सूर-वंश और मुगल-वंश की विशेषताओं का निष्कर्ष सहित उल्लेख कीजिए।
3. भक्ति आंदोलन के उदय के कारण क्या थे? संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
4. **रिक्त स्थानों की पूर्ति करें–**
   1. ..... में सूबेदार जफर खां ने तैमूरलंग द्वारा आक्रमण किए जाने पर अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया।
   2. 'कदम राव व पदम' प्रेमगाथा के अनुसार अहमदशाह ..... हो गए हैं।
   3. ..... और ..... सुल्तान साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्यों में रुचि लेकर यश के भागी बने।
   4. भक्तिकाल के कवियों ने ..... को स्वीकार नहीं किया।

5. ..... ने तत्कालीन बादशाह की स्तुति में कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं।
6. प्रेम, ज्ञान और ..... का सुंदर समन्वय इस युग की देन है।

5. बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. किसका सहयोग पाकर बाबर ने 1526 ई. में पानीपत-युद्ध में विजय प्राप्त कर ली।
   (क) खिज्र खाँ (ख) जफर खाँ
   (ग) जलाल खाँ (घ) दिलावर खाँ
2. राज्य-भार ग्रहण करते समय ..... तेरह वर्ष का था।
   (क) अकबर (ख) अहमदशाह
   (ग) फिरोजशाह (घ) फरीद खाँ
3. ..... साहित्य में मुख्यतः शृंगार व शांत रस का प्रयोग हुआ है।
   (क) रीतिकालीन (ख) काव्यकालीन
   (ग) भक्तिकालीन (घ) उपरोक्त में से कोई नहीं
4. किसने अनेक मुक्तक काव्य लिखे?
   (क) कालीदास (ख) तुलसी
   (ग) जायसी (घ) रामधारीसिंह दिनकर
5. किसने अनेक मुक्तक काव्य लिखे?
   (क) कालीदास (ख) तुलसी
   (ग) जायसी (घ) रामधारीसिंह दिनकर
6. भक्तिकाल में किसकी महत्ता सर्वोपरि मानी गई है?
   (क) कबीर (ख) तुलसी
   (ग) जायसी (घ) गुरु

6. मध्यकालीन समाज की सामाजिक स्थिति और राजनीतिक स्थिति का उल्लेख कीजिए।

8.9. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. हिंदी साहित्य का इतिहास – द्विवेदी हजारी प्रसाद, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्।
2. हिंदी साहित्य का इतिहास – टंडन डॉ. कपूर चंद, जगत राम एंड संस प्रकाशन।
3. हिंदी साहित्य का इतिहास – शुक्ल आचार्य रामचंद्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
4. हिंदी साहित्य का इतिहास – नगेंद्र नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

9. विशिष्ट रचनाकार एवं उनकी प्रतिनिधि कृतियाँ

नोट

रूपरेखा

9.1 उद्देश्य (Objectives)

9.2 प्रस्तावना (Introduction)

9.3 प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियाँ

- **9.3.1** वीरकाव्य
- **9.3.2** प्रबंधात्मक चरितकाव्य
- **9.3.3** नीतिकाव्य
- **9.3.4** अकबरी दरबार का काव्य
- **9.3.5** रीतिकाव्य

9.4 सारांश (Summary)

9.5 शब्दकोश (Keywords)

9.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

9.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

9.1. उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- भक्ति की साहित्यिक प्रवृत्तियों को जानने में।
- वीरकाव्य एवं प्रबंधात्मक चरितकाव्य को समझने में।
- अकबरी दरबार काव्य तथा रीतिकाव्य को जानने में।

9.2. प्रस्तावना (Introduction)

भक्तिकाल की प्रवृत्तियाँ साहित्य इतिहास के अन्य कालों से हैं। इन प्रवृत्तियों का अपना ही एक विशेष महत्त्व है। भक्तिकाल में निर्गुण-सगुण की प्रमुख प्रवृत्तियों के अतिरिक्त कुछ गौण काव्य-प्रवृत्तियाँ भी लक्षित होती हैं, जिनका उल्लेख साहित्य के इतिहास में आवश्यक है। ये हैं–वीरकाव्य, प्रबंधात्मक, चरितकाव्य, नीतिकाव्य, अकबरी दरबार का काव्य और रीतिकाव्य।

9.3. प्रमुख काव्य प्रवृत्तियाँ

भक्तिकाल में निर्गुण-सगुण की प्रमुख प्रवृत्तियों के अतिरिक्त कुछ गौण काव्य-प्रवृत्तियाँ भी लक्षित होती हैं, जिनका उल्लेख साहित्य के इतिहास में आवश्यक है। ये हैं–वीरकाव्य, प्रबंधात्मक, चरितकाव्य, नीतिकाव्य, अकबरी दरबार का काव्य और रीतिकाव्य।

9.3.1 वीरकाव्य

धार्मिक काव्य की प्रमुखता के कारण भक्तिकाल में वीरकाव्य-धारा अपेक्षाकृत कृश हो गई, फिर भी उसका नैरंतर्य चलता रहा है। वैसे तो 'रामचरितमानस', 'रामचंद्रिका' प्रभृति रचनाओं में भी वीर रस का प्रसंगवश समावेश हुआ है, किंतु आदिकाल की भाँति इस युग में वीर काव्यों की स्वतंत्र रचना भी हुई–यहाँ

उन्हीं का अध्ययन अपेक्षित है। ऐसे काव्य प्रायः राजाश्रय में लिखे गए। इनमें प्रमुखतया आश्रयदाताओं की यशोगाथा, युद्ध-सज्जा, अतिशयोक्तिपूर्ण विरुदावली, दान एवं शौर्य संबंधी स्तुति, शत्रु के उपहास, युद्धों की भयानकता आदि को स्थान प्राप्त हुआ है। इस काल में वीरकाव्य की रचना करने वाले प्रमुख कवि निम्नलिखित हैं–श्रीधर, नल्हसिंह, राउ जैतसी रासोकार, दुरसा जी आढ़ा, दयाराम (दयाल), कुंभकर्ण, न्यामत खाँ जान।

नोट

कवि **श्रीधर** ने ईडर के राजा रणमल्ल राठौर के आश्रय में रहकर 1400 ई. के लगभग 'रणमल्ल' छंद की रचना की थी। सांप्रति और इस काव्य के 70 छंद उपलब्ध हैं, जो डॉ. दशरथ शर्मा द्वारा संपादित 'रास और रासान्वयी काव्य' में संकलित हैं। रणमल्ल ने 1390 ई. में पाटण के सूबे जफ़र खाँ को युद्ध में पराजित किया था। 'रणमल्ल-छंद' की भाषा-शैली ओजपूर्ण है और इसमें वीर रस का सुंदर परिपाक मिलता है। नल्हसिंह द्वारा रचित **विजयपाल रासो** प्रसिद्ध तो है, किंतु इसका रचना काल संदिग्ध है। मिश्रबंधुओं के अनुसार इसकी रचना 1298 ई. में हुई थी, किंतु परवर्ती विद्वान् इसका रचना-काल 1543 ई. मानते है। इस काव्य के केवल 42 छंद ही उपलब्ध हैं। इसमें विजयगढ़ (करौली राज्य) के राजा विजयपाल और पंग राजा के युद्ध का वर्णन है। इसकी भाषा पर उत्तरकालीन भाषा-प्रभाव पड़ते रहे हैं, अतः जब तक इनकी पूर्ण और प्रामाणिक प्रति न मिल जाए तब तक इसके संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत संदर्भ में तीसरी उल्लेखनीय कृति **'राउ जैतसी रासो'** है, जिसके रचयिता और रचना-काल के विषय में कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। इसमें बीकानेर-नरेश राव जैतसी तथा सम्राट हुमायूँ के भाई कामरान के युद्ध का वर्णन है, जिसमें राव जैतसी की विजय हुई थी। यह घटना 1543 ई. के लगभग की है, अतः इस ग्रंथ का रचना काल भी इसी के आसपास माना जाता है। डिंगल भाषा में रचित प्रस्तुत कृति में सानुप्रासिक शब्दावली का प्रयोग हुआ है। इसमें दोहा, मोतियादाम और छप्पय नामक छंद प्रयुक्त हैं, और कुल छंद संख्या 90 है। इस धारा के चौथे उल्लेखनीय कवि हैं–**दुरसाजी आढ़ा।** इनका जन्म मारवाड़ के धूँदला गाँव में एक निर्धन चारण-कुल में 1435 ई. में हुआ था। ये डिंगल भाषा के बड़े प्रतिभावान कवित थे। अकबर के अतिरिक्त बीकानेर, जयपुर तथा सिरोही के राजवंशों की ओर से भी इनका सम्मान हुआ था। इनकी रचनाओं में 'विरुद्ध छित्तरी' सर्वप्रसिद्ध है। इसमें महाराणा प्रताप का यशोगान हुआ है। इसकी रचना दोहा छंद में हुई है और शैलीगत उद्‌बोधन की दृष्टि से यह रचना अप्रतिम है।

भक्तिकाल के एक अन्य वीरगाथाकार दयाराम (अथवा दयाल कवि) ने सीसोदिया वंश के राणा कर्णसिंह के आश्रय में रहकर 1618 ई. के लगभग 'राणा रासो' नामक ग्रंथ की रचना की थी। इसमें सीसोदिया कुल के प्रमुख राजाओं–कुंभा, उदयसिंह, प्रतापसिंह और अमरसिंह के युद्धों और वीरतापूर्ण क्रिया-कलापों का वर्णन है। डिंगल भाषा में रचित इस कृति में 875 छंद हैं और भाषा-प्रवाह के साथ छंद-वैविध्य की ओर भी कवि का ध्यान रहा है। कुंभकर्ण कृत 'रतन रासो' में रतलाम के महाराज के रतनसिंह का प्रशस्ति-वग्रन है। इसी रचना अनुमानतः 1618-1624 ई. के मध्य हुई थी। इसकी रचना प्रवाहपूर्ण डिंगल भाषा में हुई है। इस धारा की अंतिम उल्लेखनीय कृति 'क्याम खाँ रासो' (1634) है, जिसके रचयिता न्यामत खाँ जान फतेहपुर (शेखावटी) के शासक अलिफ खाँ के पुत्र थे। इस ग्रंथ में क्याम खाँ चौहान तथा उनके वंशजों के युद्धादि वर्णन है। क्याम खाँ के वंश में अलिफ खाँ प्रसिद्ध हुए थे। इन्हीं का प्रमुख वर्णन इस ग्रंथ में मिलता है। इस वंश के पूर्वजों ने धर्म-परिवर्तन करने पर भी अपनी 'चौहान' पदवी नहीं बदली। इस प्रकार इस वंश के राजाओं में क्षत्रियों की संस्कृति भी अक्षुण्ण बनी रही। यह ग्रंथ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वर्णन-शैली की दृष्टि से यह ग्रंथ इतिवृत्तात्मक है और ब्रजभाषा का सरल स्वरूप इसकी अन्य उल्लेखनीय विशेषता है।

9.3.2 प्रबंधात्मक चरितकाव्य

भक्तिकाल में सधारु अग्रवाल, शालिभट्ट सूरि, गौतमरासकार, जाखू मणियार, देवप्रभ और पद्मनाभ ने कुछ ऐसे चरितमूलक प्रबंधकाव्यों की रचना की थी, जो या तो आदिकाल के जैन-काव्य की परंपरा में विचरित हैं या पौराणिक संदर्भविशेष पर आधारित है अथवा जैन-काव्य-प्रवृत्तियों एवं रासो-काव्य-शैली की मध्यवर्ती कड़ी के रूप में ध्यान आकृष्ट करते हैं। प्रथम वर्ग की रचनाओं में **सधारु अग्रवाल** का 'प्रद्युम्नचरित' (1354) ब्रजभाषा के आद्यवधि प्राप्त ग्रंथों में सबसे प्राचीन माना गया है। इसमें चौबीस

नोट

तीर्थंकारों की वंदना के पश्चात् प्रद्युम्न की कथा का वर्णन किया गया है। नारद का सत्यभामा पर क्रोध, कृष्ण-रुक्मिणी का विवाह, प्रद्युम्न का दैत्य द्वारा अपहरण, शिला के नीचे कालसंवर को उसकी प्राप्ति प्रद्युम्न के लिए रुक्मिणी का विलाप, जिनेंद्रं पद्मनाभ के पास नारद का गमन, प्रद्युम्न द्वारा कालसंवर के शत्रुओं का विनाश, द्वारका-आगमन, विवाह आदि घटनाएँ इस काव्य की विषय-वस्तु का निर्माण करती हैं। अंत में प्रद्युम्न जिनेंद्र से दीक्षा लेता है और कठिन तपस्या करके मोक्ष पाता है। इस प्रकार यह काव्य जैन-कथा-ग्रंथों की श्रेणी में आता है। काव्य-तत्त्व की दृष्टि से इसमें विभिन्न रसों के सरस चित्र मिलते हैं। प्रद्युम्न-वियोग का एक चित्र देखिए–

नित-नित सीजइ विलखी खरी, काहे दुखी विधाता करी।
इकु धाजइ अरु रोवइ वयण, आँसू बहत न थाके नयण।
की मइ पुरिष बिछोही नारि, की दव धाली वणह मझारि।
की मइ लोग तेल धृत हरउं, पूत संताप कवण गुण परउं।।

शालिभद्र सूरि कृत 'पंचपांडवचरितरास' पांडवों की पौराणिक कथा पर आधारित जैन-काव्य है। इसका प्रणयन ईसा की चौदहवीं शताब्दी के अंत में किया गया था। पंद्रह सर्गों में विभाजित इस काव्य में पांडवों की कथा को अहिंसा पर आधारित रखा गया है। युद्ध और अहिंसा में से अहिंसा का चयन ही कथा का मुख्य लक्ष्य है। इस काव्य की भाषा अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थानी हिंदी है। चौदहवीं शताब्दी के अंत में किसी अज्ञात जैन कवि ने 'गौतमरास' की रचना की थी। इसके रचयिता का नाम कुछ विद्वानों में भूल से उदयवंत या विजयभद्र समझ लिया, किंतु श्री अगरचंद नाहटा इस मत से सहमत नहीं है। जैन तीर्थंकर महावीर के प्रथम गणधर गौतम इस काव्य के चरितनायक हैं। घटना और भाव के समन्वय से युक्त यह एक सरस खंडकाव्य है, जिसकी भाषा अपभ्रंश-प्रभावित राजस्थानी हिंदी है।

जैन-काव्य-परपंरा से भिन्न रचनाओं में जाखू मणियार कृत 'हरिचंद पुराण' (1396) ब्रजभाषा की महत्त्वपूर्ण काव्य-कृति है। इसमें राजा हरिश्चंद्र की पौराणिक कथा का चित्रण है। घटनाओं का नियोजन प्रबंधकाव्य की शैली में किया गया है तथा समस्त वर्णनों में भावों की मार्मिकता मिलती है। इसकी भाषा पर अपभ्रंश के प्रभाव की एक हल्की झलक शेष है। कथ्य, अभिव्यंजना तथा भाव-गांभीर्य की दृष्टि से यह काव्य भक्तिकाल में रचित ब्रजभाषा-काव्य का आरंभिक निदर्शन कराता है।

चौदहवीं शताब्दी के अंत में देवप्रभ द्वारा रचित 'कुमारपाल रासो' भिन्न शैली की रचना है। वह कृति जैन-रास-काव्यों तथा वीर-प्रशस्तिपरक 'रासो' काव्यों की प्रवृत्तियों का समन्वय प्रस्तुत करती है। इसमें राजात कुमारपाल की वीरता, उदारता, अहिंसा-प्रेम तथा नैतिकता-प्रचार का वर्णन है। ओर तो यह काव्य जैन धर्म की प्रवृत्तियों का काव्य की सरस भाव-भूमि पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रसार करता है और दूसरी ओर राजा के अव्यक्तित्व तथा लोकमंगलकारी प्रभाव को भी व्यापक बनाता है। समस्त रचना में धार्मिकता कहीं पर भी उभरकर काव्य की सरसता में बाधक नहीं बनी। कुमारपाल के राज्य का तपोवनानुकूल प्रभाव की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसकी भाषा सरल राजस्थानी हिंदी है। इसी प्रकार की एक रचना 'कान्हड़ दे प्रबंध' है, जिसे **पद्मनाभ** ने ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ में लिखा था। इसी रचना-पद्धति रासो-काव्यों की शैली से भिन्न है। इसमें महाराज कान्हड दे का चरित वर्णित है। कवि ने आलंकारिक शैली में घटनाओं का सुनियोजित चित्रण किया है। सभी वर्णनों में काव्य-कला का पूर्ण विकास पाया जाता है। पद्य के साथ इसमें गद्य का प्रयोग भी मिलता है।

9.3.3 नीतिकाव्य

आदिकाल से ही भारतीय चिंतनधारा ऐहिकता की अपेक्षा पारमार्थिक तत्वों को महत्त्व देता रही है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, अहंकार आदि से बचने तथा उपकार, दान, दया और ईश्वर-चिंतन की ओर उन्मुख होने की प्रवृत्ति प्राचीनतम ग्रंथ से ही प्राप्त होने लगती है। समस्त वेदों, पुराणों, रामायण, महाभारत आदि में नीति के तथ्य और उपदेश प्रज्ञपत होते हैं। संस्कृत-काव्य और नाटकों में प्रसंगानुसार यत्र-तत्र नीति-पदावली मिलती है। संस्कृत में अनेक नीति-ग्रंथ भी मिलते हैं, जैसे-चाणक्य-नीति, विदुर-नीति तथा

नोट

भर्तृहरि-नीतिशतक। अनेक सुभाषितों के जो संग्रह मिलते हैं, उनमें नीति-वचनावली का आधिक्य मिलता है। पालि-साहित्य में नीतिकाव्य का बाहुल्य है, क्योंकि उसमें उपदेश अधिक हैं। प्राकृत और अपभ्रंश में बौद्ध सिद्धों तथा जैन संतों की रचनाओं में परलोक, मोक्ष, आत्म-साक्षात्कार आदि पर बल देने के साथ ही त्याग, संयम, दया, क्षमा, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि को विशेष महत्त्व दिया गया है। नाथपंथियों और वज्रयानी सिद्धों की रचनाओं में भी उपदेशों की ही प्राथमिकता है। तात्पर्य यह है कि नीतिकाव्य की एक पुष्ट परंपरा पहले से विद्यमान थी, अतः भक्तिकाल में इसका विकसित होना स्वाभाविक था।

भक्तिकाल में नीतिकाव्य के तीन रूप प्राप्त होते हैं–(अ) कबीर, नानक, दादू आदि संतों की रचनाओं में नीति संबंधी पद धर्मोपदेशों के अंग-रूप में कहे गए थे, (आ) 'रामचरितमानस', 'पद्मावत' प्रभृति प्रबंधकाव्यों में यत्र-तत्र नीति संबंधी उपदेश कथा-क्रम में आनुषंगिक रूप में मिलते हैं, (इ) कुछ कवि ऐसे भी हैं जिन्होंने नीतिकाव्य की ही रचना की है। यहाँ इनमें से तृतीय वर्ग के कवियों का विवेचन अभीष्ट है। इस वर्ग के प्रमुख कवि जैन मतावलंबी हैं; यद्यपि छीहल, रत्नावली, जमाल प्रभृति अनेक अन्य कवियों ने भी नीतिकाव्य की रचना की है। इस धारा की प्रथम उल्लेखनीय रचना जैन कवि **पद्मनाभ** की 'डूंगर-बावनी' (1489) है, जिसका नामकरण कवि ने अपने आश्रयदाता डूंगर सेठ के नाम पर किया है। इसमें 53 छप्पय हैं जिनमें दया, कर्म-फल, नम्रता आदि में ही जीवन-साफल्य माना गया है। तथा सप्त व्यसन (जुआ, मांस-भक्षण, सुरापान, वेश्यागमन, आखेट, चोरी, परनारी-रमण) से बचने का परामर्श दिया गया है। जैन कवि ठाकुर सी (रचनाकाल 1523-1526) की रचनाओं-कृपण-चरित्र और पंचेन्द्रीवेलि-की हस्तलिखित प्रतियाँ बंबई के दिगंबर मंदिर और जयपुर के वधीचंद मंदिर में सुरक्षित हैं। 'कृष्ण-चरित्र' में एक कृपण सेठ और उसकी उदार पत्नी की कथा है तथा 'पंचेंद्रीवेलि' में इंद्रिया-निग्रह संबंधी छप्पय हैं जिनमें गज, मीन, भ्रमर, पतंग, मृग आदि के माध्यम से स्पर्श, रस, रूप, गंध आदि से बचने के सुझाव हैं। कवित्व की दृष्टि से ये दोनों कृतियाँ साधारण स्तर की हैं।

अग्रवाल कुल में समुत्पन्न छीहल कवि की 'छीहल बावनी' (1527) भक्तिकालीन नीतिकाव्यों में विशेष प्रसिद्ध है। इसमें 53 छप्पय हैं, जिनमें अनेक व्यावहारिक विषयों पर सुंदर कथन मिलते हैं। वैसे इन्होंने 'पंच सहेली की बात' , 'पंथी गीत' आदि कुछ अन्य कृतियों की भी रचना की है। इनके समकालीनों में गोस्वामी तुलसीदास की पत्नी रत्नावली ने भी उद्बोधनात्मक नीतिकाव्य की रचना की है। इन्हीं के प्रभाव से गोस्वामी तुलसीदास विरक्त होकर चले गए थे। 'रत्नावली-दोहा-संग्रह' में 111 दोहे हैं, जिनमें विविध विषयों का प्रतिपादन हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

घी को घट है कामिनी, पुरुष तपत अंगार।
रत्नावलि घी अगिन को, उचित न संग विचार।।

सोलहवीं शती के मध्य में विद्यमान कवि **देवीदास** कृत 'राजनीति के कवित्त' की हस्तलिखित प्रति नागरीप्रचारिणी सभा, काशी में सुरक्षित है। ये शेखावटी के राव लूणकरण के मंत्री थे और जाति के वैश्य थे इनके कवित्तों की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से भी इनके कवित्त सुंदर बन पड़े हैं–उनमें राजनीति के अतिरिक्त अन्य सामान्य विषयों का भी प्रभावशाली निरूपण मिलता है। इनके समकालिक कवि जमाल की गणना भी राजस्थान के लोकप्रिय नीतिकारों में की जाती है। 1570 ई. के लगभग रचित 'जमाल दोहावली' के कुछ दोहे पठनीय हैं–

रंग जा चोल मजीठ का, संत बचन प्रतिपाल।
पाहण रेख रु करम गत, ए किमि मिटे जमाल।।

पूनज चांद कुसुम रंग, नदी-तीर द्रुम-डाल।
रेत भीत भुस लीपणो, ए थिर नहीं जमाल।।

बीकानेर नरेश महाराज राजसिंह के राजकवि **उदैराज** की 'उदैराज को दूहा' (1603) और 'गुणबावनी' शीर्षक रचनाएँ बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में सुरक्षित हैं। इनकी भाषा राजस्थानी है तथा इन्होंने नीति संबंधी विविध विषयों का अनूठा कथन किया है। इनके स्मसामयिक कवि बान 'कलिचरित्र' अनूप पुस्तकालय, बीकानेर में हस्तलिखित रूप में उपलब्ध है। ये मथुरा-निवासी रमई पाठक के पुत्र थे और

नोट

महाराज महासिंह के यहाँ प्रतिष्ठित थे। इन्होंने अपने ग्रंथ में जहाँगीर की प्रशंसा भी की है। 'कलिचरित्र' में 45 पद्य हैं, जिनमें प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा तथा हास्यरसपूर्ण व्यंग्यात्मक शैली में कलिकाल की विडंबनाओं का वर्णन किया गया है। इस अवधि के अन्य कवियों में दाददयाल के शिष्य **वाजिद** भी प्रसिद्ध नीतिकार हुए हैं। एक आर ये शिकार के लिए गए थे। वहीं पर हिरणी का शिकार करते हुए इनमें विराग-भाव जगा और ये साधु हो गए। इनकी पूरी 'वाणी' प्राप्त नहीं होती, केवल ग्रंथों को उल्लेख मिलता है, जिनमें प्रमुख हैं–ग्रंथ गुण उत्पत्तिनामा, ग्रंथ प्रेमनामा, ग्रंथ गरजनामा, साखी वाहिद। इन्होंने दोहा, चौपाई और अरिल्ल छंदों का प्रयोग किया है तथा इनकी रचनाओं में दया, दान, साधु-संगति, इंद्रिय-निग्रह, मनोयोग आदि विषयों की प्रधानता मिलती है।

भक्तिकालीन नीतिकवियों में जैन कवि **बनारसीदास** का मुख्य स्थान है। इनका जन्म 1586 ई. में जौनपुर में हुआ था ये सम्राट अकबर के प्रशंसक थे, जहाँगीर के दरबार में भी गए थे और शाहजहाँ के दरबार में तो इन्हें विशेष मान प्राप्त था। 'नवरस पद्यावलि', 'समयसार नाटक', 'बनारसीविलास', 'अर्द्ध कथानक', 'भाषा सूक्तिमुक्तावली' आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनमें कंचन और कामिनी के त्याग तथा सत्य, क्षमा, शील, अपरिग्रह, नम्रता, निर्लोम, अहिंसा आदि गुणों के निर्वाह पर बल दिया गया है। नीतिकाव्य के साथ ही इन्होंने अध्यात्मपरक काव्य की भी रचना की है। ये समस्त प्राणियों में एक ही परमेश्वर का अंश मानते थे, अतः हिंदू-मुसलमान, हिंदू-जैन, ब्राह्मण-शूद्र आदि में भेद इन्हें स्वीकार नहीं था। इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–

माया छाया एक है, घटै बढ़ै छिन मांहिं।
इनकी संगत ले लगें, तिनहिं कहीं सुख नाहिं।।

एक रूप हिंदू तुरुक, दूजी दशा न कोय।
मन की द्विविधा मान कर, भए एक सौं दोय।।

जैन नीतिकारों में राजसमुद्र और कुशलबीर भी उल्लेखनीय है। राजसमुद्र का जन्म 1590 ई. में बीकानेर में हुआ था। इसका बचपन का नाम खेतसी था, 1599 ई. में जिनहिंस सूरि से दीक्षा लेने पर इनका नाम राजसमुद्र हो गया। इनकी रचनाओं का मुख्य विषय नीति है और भाषा राजस्थानी है। 'शालिभद्र चौपाई' 'गजसुकमाल चौपाई', 'प्रश्नोत्तर रत्नमाला', 'कर्मबत्तीसी' और 'बालावबोध' इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। कुशबीर सोजन नगर के निवासी थे। ये कल्याणसभा के शिष्य थे और इनका रचना-काल 1637 से 1672 ई. है। इनके अनेक नीति-ग्रंथ हैं–भोज चौपाई, सीलवती रास, कर्म चौपाई, वर्णन संपुट तथा उद्दिम-कर्म-संवाद। इनकी भाषा राजस्थानी है और शैली उपदेशात्मक है।

9.3.4 अकबरी दरबार का काव्य

सम्राट अकबर को हिंदी भाषा से अनुराग था। राजभाषा यद्यपि फारसी थी, तथापि नित्य के व्यवहार में हिंदी ही प्रयुक्त होती थी। वे न केवल हिंदी-कवियों का अपने दरबार में सम्मान करते थे, वरन् स्वयं भी हिंदी और फारसी में काव्य-रचना करते थे। अकबरी दरबार में जिन हिंदी-कवियों को विशेष सम्मान प्राप्त था, वे हैं–चतुर्भुजदास, आसकरण, पृथ्वीराज, मनोहर, टोडरमल, नरहरि, बीरबल 'ब्रह्म', गंग, तानसेन और रहीम। **चतुर्भुजदास** विद्वान और विद्यानुरागी थे तथा बीरबल के माध्यम से अकबरी दरबार में सम्मानित हुए थे। बाद में ये राधावल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित हुए और जीवनपर्यन्त वृंदावन में रहे। 'द्वादश यश' (1503) इनकी कृष्ण-भक्ति संबंधी प्रसिद्ध रचना है। राजा **आसकरण** नवरगढ़ के राजा भीमसिंह के पुत्र थे। 'आईने अकबरी' में इनका उल्लेख हुआ है। कालांतर में ये गुसाईं विट्ठलनाथ जी के सेवक हो गए और सेवा-विधि सीखकर कृष्ण-लीला-गान में निरत रहने लगे। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' और 'कीर्तन-संग्रह' में इनके पद मिलते हैं। कवि पृथ्वीराज बीकानेर राज्य के संस्थापन राव बीका जी के वंशज थे। इनका जन्म 1549 ई. में हुआ था। ये दर्शन ज्योतिष और संगीत के ज्ञाता तथा अच्छे कवि थे। 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री पृथ्वीराज कथी', 'श्यामलता', 'दशरथ रावउत', 'वसुदेव रावउत' और 'गगालहरी' के अतिरिक्त इनके स्फुट गीत भी उपलब्ध हैं। 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री' भक्ति-शृंगार का अनुपम ग्रंथ है। इसकी भाषा सरस और अलंकृत डिंगल है। कवि पृथ्वीराज जी वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित थे। इनके हृदय में भगवान् कृष्ण

और बृजभूमि के प्रति बड़ी आस्था थी। राजभक्ति, देशभक्ति और ईश्वरभक्ति तीनों इनमें विद्यमान थीं। ये कृष्णभक्त तो थे ही, अकबर के प्रति इनमें राजभक्ति थी और देशभक्ति के कारण ये महाराणा प्रतापसिंह के प्रति अपार श्रद्धा-भाव रखते थे। अकबर के दरबारी कवि होते भी इन्होंने महाराणा प्रताप का यशोगान किया है। यथा–

नोट

अकबर समद अथाह, सूरापण भरियो सजल।
मेवाड़ों तिण मांह, पोयण, फूल प्रतापसी।।
बाही राण प्रतापसी, वगतर में बच्छीह।
जावण भीतर जाल में मुँह काढ़यो मच्छीह।।

मनोहर कवि फारसी, संस्कृत और हिंदी में काव्य-रचना करते थे। मिश्रबंधुओं ने इसका रचना-काल 1563 ई. माना है। ये युवावस्था में अकबरी दरबार में थे और वृद्धावस्था में जहाँगीर दरबार में। अकबर में इन्हें 'राय' की उपधि दी थी। इनके द्वारा रचित 'शत प्रश्नोत्तरी' ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं है। इसमें नीति और शृंगार के दोहे थे। इनके काव्य-गुणों की प्रशंसा शिवसिंह सेंगर, मिश्रबंधु तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने की है। फारसी के कवि होने के कारण इनकी भाषा और काव्य-कला में फारसी का पुट हुआ करता था। अकबरी दरबार में भूमिकर-विभाग के मंत्री **राजा टोडमल** भी काव्यानुरागी थे। नीति संबंधी उपदेशों के अतिरिक्त इन्होंने कुछ छंदों में आत्माभिव्यक्ति भी की है। हुँडी, व्यापारी, आढ़तिया, साहूकार, सर्राफा और बहीखाता-जैसे विषयों पर भी इन्होंने दोहे लिखे थे।

महापात्र नरहरि (1505-1607) अकबर के राजकवि थे। ये संस्कृति, फारसी और हिंदी के विद्व ान थे। 'मिश्रबंधु-विनोद' में इनके तीन ग्रंथों का उल्लेख मिलता है–रुक्मिणी मंगल, छप्पय-नीति और कवित्त-संग्रह। वर्ण्य विषय की दृष्टि से इन्होंने भक्ति, नीति और राजप्रशस्तिपरक रचनाएँ लिखी हैं। इन्होंने वैष्णव और शैव संप्रदायों के भेद-भाव से विरत रहकर दोनों के प्रति समान श्रद्धा रखी है। साथ ही इन्होंने कृष्णभक्ति संबंधी पद भी लिखे हैं। नीति संबंधी तथ्यों का प्रतिपादन भी इनकी उल्लेखनीय प्रवृत्ति है। हुमायूँ, अकबर, रीवा-नरेश वीरभान, उनके पुत्र रामचंद्र, शेरशाह और जगन्नाथपुरी के राजा मुकुंददेव की प्रशस्ति में भी इन्होंने कवित्त-रचना की है इन कविताओं में ऐतिहासिक तथ्यों का उद्‌घाटन तो है, किंतु अन्य गुणों की दृष्टि से ये साधारण हैं।

बीरबल 'ब्रह्म' (1528-1583) सम्राट अकबर के दरबार में विनोदी और कवि के रूप में सामदृत थे। इनका मूल नाम महेशदास भट्ट और ये तिकावांपुर, जिला कानपुर में उत्पन्न हुए थे। 'राजा बीरबल' उपाधि इन्हें अकबर से प्राप्त हुई थी। अकबरी दरबार में आने से पूर्व ये कालपी, कालिंजर और रीवा के राजाओं के यहाँ रह चुके थे। अकबर ने इनको नगरकोट (जिला कांगड़ा) की तहसील दी थी और न्यायाधीश भी बनाया था। कविताओं से अधिक इनके चुटकुले लोकप्रिय हैं, किंतु यह इनके द्वारा रचित नहीं है। इनके लगभग दो सौ स्फुट पद्य प्राप्त होते हैं जिनमें शृंगारप्रधान कृष्ण-लीलाओं, भक्ति और नीति का समावेश है। इनकी भाषा सरस और अनुप्रासयुक्त है।

अकबरी दरबार के कवितयों में **गंग** (1538-1617) का विशेष सम्मान था। इनका पूरा नाम गंगाप्रसाद था। इनके छंदों में जिस कोटि का काव्य-चमत्कार, वाग्वैदग्ध्य और भाषा-सौष्ठव मिलता है, इसके फलस्वरूप इनके विषय में यह कथन प्रसिद्ध हैं–"तुलसी गंग हुआ भये सुकविनके सरदार।" ये बीरबलके बालसखा थे। आगे चलकर ये मानसिंह, टोडरमल और अब्दुल रहीम खानखाना के संपर्क में आए। अकबर के दरबार में कविगण समस्यापूर्ति करते थे। गंग की रचनाएँ विशेष सम्मानित होती थीं। कहा जाता है कि रहीम ने इनके एक छप्पय पर छत्तीस लाख रुपये पारितोषिक में दिए थे। गंग स्वयं भी दानी थे। दैववश वृद्धावस्था में जहाँगीर ने इनके एक छप्पय पर छत्तीस लाख रुपये पारितोषिक में दिए थे। गंग स्वयं भी दानी थे। दैववश वृद्धावस्था में जहाँगीर के शासन-काल में इनकी आर्थिक स्थिति दयनीय हो गई। उन दिनों शासन नूरजहाँ के हाथ में था। गंग ने शहजादा खुर्रम (भावी शाहजहाँ) की प्रशंसा में छंद लिखा। यह जानकर नूरजहाँ इनकी जानी दुश्मन बन गई और अवसर पाकर उसने इन्हें हाथी से कुचलवा डाला। मरने से पूर्व गंग ने यह दोहा कहा–

कबहुं न भड़ुआ रच चढ़ै, कबहुं न बाजी बंब।
सरस सभाहि प्रनाम करि, विदा होत कवि गंग।।

गंग की तीन रचनाएँ प्रसिद्ध हैं–गंग पदावली, गंग पच्चीसी और गंग रत्नावली। ये कृतियाँ संपूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। अभी तक इनके प्राय: 400 छंद उपलब्ध हुए हैं, जो 'गंग-कवित्त' शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं। इनमें मुख्य रूप से शृंगार और भक्ति को तथा गौण रूप से नीति और राज-प्रशस्ति को स्थान प्राप्त हुआ है।

नोट

अकबरी दरबार के कवियों में संगीतज्ञ **तानसेन** (1531-1583) विशेष गणनीय हैं। इनका जन्म ग्वालियर-निवासी मकरंद पांडे के यहाँ हुआ था और इनका बचपन का नाम 'तन्नू' था। पहले ये रीवा-नरेश रामचंद्र के दरबार में थे। मुसलमान होने पर ये प्रसिद्ध सूफी गौस मुहम्मद के शिष्य हुए। किंवदंती के अनुसार इन्होंने किसी शहजादी के प्रेम के कारण धर्म-परिवर्तन किया था। मुसलमान होने के उपरांत भी ये गोसाई विट्ठलनाथ, सूरदास, हरिदास और गोविंदस्वामी के प्रभाव में रहकर वैष्णभ भक्त बने रहे। 'मिश्रबंधु-विनोद' के अनुसार इन्होंने 'संगीत सार', 'रागमाला', और 'गणेशस्तोत्र' की रचना की थी। इनके स्फुट पद भी प्राप्त हैं। आरंभ में इन्होंने रीवा-नरेश रामचंद्र, अकबर और मानसिंह की यशोगान किया था, पर इनका परवर्ती काव्य भक्त-हृदय की अनुभूतियों से संपन्न है। ईश्वर की व्यापकता; अल्लाह और मुहम्मद का गुणगान; सरस्वती, गणेश, महादेव और सूर्य की स्तुति तथा मन: प्रबोध इनके प्रमुख वर्ण्य विषय है। वल्लभ-संप्रदाय के संपर्क में आने पर ये पूर्ण कृष्ण भक्त हो गए। इन्होंने कृष्ण की बाललीला, मुरलीलीला, राधा के रूप-सौंदर्य, गोपी-विरह आदि का मार्मिक वर्णन किया है। इनकी ब्रजभाषा में फारसी-शब्द भी प्रयुक्त हैं। भाषा अलंकारिक, सरस और संगीतमयी है। तानसेन ध्रुपद शैली के श्रेष्ठ गायक थे, फलस्वरूप इनके पदों में काव्य और संगीत की गंगा-यमुना का प्रवाह मिलता है।

अकबरी दरबार के कवियों में **रहीम** (1556-1638) का मूर्द्धन्य स्थान है। ये बैरम खाँ खानखाना के पुत्र थे और इनकी माँ हुमायूँ की पत्नी की छोटी बहन थीं। अल्पायु में ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण अकबर ने ही इनका पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा अपनी देखरेख में करवाई थी। बड़े होने पर पहले इन्हें पाटन की जागीर दी गई और फिर अजमेर की सूबेदारी और रणथंभौर का किला दिया गया। अकबर ने इन्हें नवरत्नों में स्थान दिया था। जहाँगीर के शासन-काल में भी इनका सम्मान बना रहा, किंतु अंतिम दिनामें शहजादा खुर्रम का समर्थन करने के कारण नूरजहाँ का कोपभाजन बनना पड़ा। वह अपने दामाद शहजादा शहरयार को भावी शासक बनाने को स्वप्न देख रही थी। उसके आदेश से इन्हें कैछ कर दिया गया। बाद में जहाँगीर ने इन्हें क्षमा कर दिया। फिर भी, इनके जीवन के अंतिम दिन कुशलता के साथ व्यतीत नहीं हुए।

रहीम अरबी, फारसी और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता और हिंदी के सुकवि थे। इन्होंने ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही काव्य-रचना आरंभ कर दी थी। इनकी रचनाओं में दोहावली, नगरशोभा, बरवै नायिकाभेद और मदनाष्टक प्रमुख हैं। कहा जाता है कि इन्होंने सतसई की रचना की थी, किंतु संप्रति इनके नीति संबंधी प्राय: तीन सौ दोहे ही मिलते हैं। एक अनुमान के अनुसार कदाचित् इन्होंने शृंगार रस के दोहे भी लिखे होंगे, जिनके योग से 'सतसई' बनती। जो भी हो, इनके नीति संबंधी दोहे सर्वप्रसिद्ध हैं और उनमें जीवन की विविध अनुभूतियों का मार्मिक चित्रण हुआ है। यथा–

जो रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारे लगे, बढ़े अंधेरों होय।।

रहिमन अंसुआ नैन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ
जाहि निकारो गेह तो, कस न भेद कहि देइ।।

'नगरशोभा' में जौहरिन, रंगरेजिन, तुरकिन, कैथिन, गूजरी आदि विविध जातियों की स्त्रियों का चित्रण मिलता है। अकबरी दरबार की शृंगारिक भावनाओं और 'मीना बाज़ार' की झलक इस ग्रंथ में सुलभ है। 'बरवै नायिकोभेद' में काव्यशास्त्र में प्राप्त अनेक प्रकार की नायिकाओं का वर्णन हुआ है। इसमें नायिका

के लक्षण नहीं दिए गए, किंतु उदाहरण इतने सरस हैं कि पाठक भाव-विभोर हो जाता है। 'मदननाष्टक' में कृष्ण-लीला संबंधी आठ सुंदर पर हैं, जिनमें गोपियों की प्रेमविह्वलता, मुरली-लीला तथा गोपी-विरह का शृंगार-रसात्मक वर्णन है। इनका एक ज्योतिष-ग्रंथ 'खेटकौतुक जातकम्' भी उपलब्ध है। इसी रचना फारसी-मिश्रित संस्कृत भाषा में हुई और इसमें मनुष्य-जीवन पर ग्रह-नक्षत्रों के प्रभाव का संक्षिप्त चित्रण है।

नोट

9.3.5 रीतिकाव्य

भक्तिकाल में तथा इससे पूर्व भी, यद्यपि हिंदी-साहित्य गुण और परिमाण की दृष्टि से पर्याप्त प्रतिष्ठित हो चुका था तथा इसे विरासत के रूप में संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की अक्षुण्ण परंपरा भी प्राप्त थी, तथापि इसमें काव्यांग-निरूपण की प्रवृत्ति का आविर्भाव जिस कारण से नहीं हो सका वह यही था कि तत्कालीन कवियों को इस दिशा में या तो सोचने का अवकाश नहीं मिला या फिर उन्होंने प्रयत्न ही नहीं किया। आदिकाल के चारण कवियों को यदि युद्धों से अशांत वातावरण में काव्यशास्त्र के लिए अपेक्षित एकांत-चिंतन का अवसर नहीं मिला, तो संत और सूफी कवि एतद्विषयक ज्ञान की तुलना में आध्यात्मिक ज्ञान को कहीं अधिक श्रेष्ठ एवं श्रेष्यकर मानकर आत्मचिंतन में ही जान-बूझकर उलझे रहे। इन लोगों के लिए कविता अपनी बात को कहने का साधनमात्र रही-कला की वह सिद्धि नहीं रही, जिसमें अनुभूति के समान अभिव्यक्ति के विभिन्न उपकरणों का सौंदर्य भी महत्त्व रखता है। ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने पुष्प या पुढ्य कवि द्वारा 713 ई. में रचित 'अलंकाररत्नाकार' नामक अलंकार-विवेचन संबंधी जिस हिंदी-ग्रंथ का उल्लेख कर हिंदी भाष के बहुत पहले आविर्भूत होने, आठवीं शताब्दी तक उसके स्वरूप और साहित्य के प्रौढ़ और प्रतिष्ठित हो जाने, उसमें रीति-निरूपण की परंपरा का आरंभ कई शताब्दी पूर्व होने आदि जिन संभावनाओं के लिए स्थान छोड़ा है, उनसे उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना अधिक संगत प्रतीत होता है, कारण एक तो वह आज किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं, दूसरे इस समय के पर्याप्त बाद तक हिंदी इतने प्रौढ़ रूप को प्राप्त नहीं हो सकी थी कि उसमें इस प्रकार का प्रयत्न संभव हो पाता।

वस्तुत: हिंदी-रीति-निरूपण परंपरा का आरंभ कृपाराम की 'हिततरंगिनी' से ही माना जाना चाहिए, क्योंकि इसकी रचना के समय तक हिंदी-भाषा और उसके साहित्य में इस विषय के लिए अपेक्षित प्रौढ़ता ही नहीं आ गई थी, उसके उपयुक्त वातावरण भी उपस्थित हो गया था। इस समय तक वैष्ण ाव धर्म के व्यापक प्रभाव और प्रसार के परिणामस्वरूप निर्गुणब्रह्मवादियों द्वारा निरूपति जटिल दार्शनिक सिद्धांतों तथा कठोर साधना की अपेक्षा भक्ति की सरल पद्धति के प्रति लोग अधिक आकृष्ट होने लगते थे और इसे समझने-समझाने का प्रयत्न बराबर हो रहा है। यही कारण है कि वैष्णव भक्त रूपगोस्वामी ने भक्ति के स्वरूप और माहात्म्य को स्थापित करने के लिए संस्कृत में 'भक्तिरसामृतसिंधु' जैसे मौलिक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ की तथा माधुर्य भक्ति के अंगरूप शृंगार रस और नायक-नायिका-भेद समेत उसके विभिन्न पक्षों की व्याख्या के निमित्त 'उज्जवलनीलमणि' नामक एक और ग्रंथ की रचना की। बाद में जब लोकभाषा-ब्रजभाषा-के माध्यम से इस विषय को समझाए जाने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी तो कृपाराम, सूर और नंददास-जैसे भक्तों ने प्रयत्न आरंभ कर दिया। हमारी धारणा है कि कृपाराम ने 'हिततरंगिनी' की रचना मुख्य रूप में भक्तों द्वारा प्रयुक्त स्वकीया-परकीया-भाव को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही की होगी, यही कारण है कि उन्होंने इसमें सामान्य का वर्णन बहुत ही चलते ढंग से किया है, इसके भेदों का यथास्थान वर्णन करते हुए भी मनोयोग प्रदर्शित नहीं किया।

काव्यशास्त्र के साथ इस प्रकार से संपर्क होने के परिणामस्वरूप ये लोग संभवत: इतर काव्यांगों से भी परिचित हुए और अब तक मात्र भक्ति का माध्यम समझी जानेवाली कविता का इन्हें साहित्यिक महत्त्व भी ज्ञात हुआ। फलत: कविता के स्वरूपविधायक विभिन्न पक्षों के प्रति सचेष्ट होकर रचना करने का प्रयत्न हीं नहीं हुआ, उनके विषय में चर्चा भी होने लगी। गोस्वामी तुलसीदास द्वारा 'मानस' के प्रथम सोपान में विभिन्न रूपकों तथा विनम्रता-प्रदर्शन के ब्याज से यह सहज ही प्रकट कर दिया गया है कि काव्यशास्त्र का उन्हें केवल ज्ञान ही नहीं था, उसके विभिन्न पक्षों के प्रति उनका निश्चित दृष्टिकोण भी था। सूरदास द्वारा 'साहित्यलहरी' में शृंगार रस की सामग्री के अतिरिक्त क्रमश: विभिन्न अलंकारों का निर्वाह भी इसी ओर इंगित करता है।

नोट

इस काल के अंतिम चरण में कविता का प्रवेश राजदरबारों में भी दृष्टिगत होता है, जहाँ इसे साहित्य से ऊपर उठकर कला के रूप में ग्रहण किया गया। अतएव अब कवियों का कर्म कविता करने की अपेक्षा आश्रयदाताओं और उनके सामंतों आदि के लिए अभिव्यक्ति के सौंदर्यवर्द्धक उपकरणों का ज्ञान उपलब्ध कराना अधिक आवश्यक हो गया; जिससे कि वे लोग दरबार में होने वाली काव्य-गोष्ठियों में पढ़ी जाने वाली कविताओं के गुण-दोषों की चर्चा कर अपने काव्यकला-ज्ञान का, अथवा कतिपय छंदों की रचना कर अपनी सहृदयता का परिचय दे सके।

इस प्रकार रीति-निरूपण की यह प्रवृत्ति भक्ति के प्रखर की तुलना में अत्यंत क्षीण रही—भक्ति की पूरक होकर ही आविर्भूत हुई और उसके सहारे से ही आगे बढ़ती रही, तथापि शनैः-शनैः राजदरबारों में प्रवेश करते ही यह भक्ति के अवलंबन को छोड़कर स्वतंत्र प्रवृत्ति का रूप धारण कर उत्तरोत्तर पुष्ट होती गई। रीतिकाल में इसी का पुष्ट रूप दृष्टिगत होता है। यहाँ हम भक्तिकाल के कतिपय कवियों के रीति-निरूपण-कर्म की चर्चा करते हैं, जिससे सहज ही इस प्रवृत्ति के विकास का आभास मिल सकेगा।

कृपाराम—हिंदी-रीति-परंपरा के आदि आचार्यों में कृपाराम का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। इनके विषय में सिवाय इसके कि इन्होंने 1541 ई. में 'हिततरंगिनी' नामक ग्रंथ लिखा था, और कोई भी तथ्य उपलब्ध नहीं है। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि ये ओड़छा में रहने वाले पंजाबी वैष्णव ब्राह्मण रहे होंगे, किन्तु इसकी पुष्टि के लिए सबल प्रमाणों की अपेक्षा है। 'हिततरंगिनी' कुल मिलाकर 400 छंदों का ग्रंथ है तथा पाँच तरंगों में विभक्त है। प्रथम तरंग में शृंगार के आलंबन नायिका और नायक के विभिन्न भेदोपभेदों का उल्लेखमात्र है। द्वितीय तरंग में सखी और उसके कर्मों तथा दूती, उसके उत्तमादि भेदों एवं कर्मों के उपरांत स्वकीया के सामांतर भेदों का लक्षण उदाहरण-सहित निरूपण है जबकि तृतीय और चतुर्थ तरंगों में क्रमशः परकीया और सामान्या के भेदों का वर्णन किया गया है। अंतिम तरंग में व्यवहार के आधार पर उत्तमादि का तथा मान और गर्व के आधार पर क्रमशः धीरादि और रूपगर्विता भेदों के उपरांत अवस्थानुसार दश नायिकाओं का वर्णन किया गया है। प्रथम तरंग में पति, उपपति और वैशिक नामक तीनों भेदों का उल्लेख तो हुआ है, किंतु नायिकाभेद के समान यहाँ एतद्विषयक लक्षण-उदाहरण देने का प्रयत्न नहीं किया गया। इसी प्रकार आरंभ में ग्रंथकार की प्रतिज्ञा शृंगार-विवेचन संबंधी ग्रंथ प्रस्तुत करने की रही है, किंतु आलंबन और उद्दीपन के संक्षिप्त विवेचन के अतिरिक्त इस रस के इतर अंगों तथा भेदों की चर्चा तक नहीं की गई। अतएव कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ मूलतः नायिकाभेद-विवेचन के उद्देश्य से ही लिखा गया है और नायक-भेद, मान, मान-मोचन-उपायों, कामदशाओं तथा सूखी और दूरी के भेदों एवं उनके कर्मों का उल्लेख अथवा वर्णन इस विषय से किसी-न-किसी रूप में संबंद्ध होने के कारण ही कर दिया गया है। किंतु, संक्षेप के आग्रह के रहते हुए भी कृपाराम का विवेचन पर्याप्त व्यवस्ति, सुबोध एवं सरस है। विवेचन का आधार, स्थान-स्थान पर दिए गए भरत के साक्ष्यों से, यद्यपि 'नाट्यशास्त्र' प्रतीत होता है; तथापि भानुदत्त की 'रसमंजरी' का प्रभाव भी इस पर कम स्पष्ट नहीं है। विवेचन-व्यवस्था ग्रंथकार की अपनी है। इतना ही नहीं, मुग्धा के ललिता, वयःसंधि और उदितयौवना तथा सामान्य के मुग्धा और मध्या नाम नवीन भेदों के अतिरिक्त अवस्थानुसार नायिकाओं में स्वाधीनपतिका की—तथा गर्विता के नवीन भेद सरलोक्तिगर्विता की—उद्भावना सर्वथा मौलिक है। लक्षण और उदाहरण दोहा आदि छोटे छंदों में होते हुए भी इतने सुगठित हैं कि विषय सहज ही स्पष्ट होता चला जाता है। रीति-निरूपण के समान ही कृपाराम को कविकर्म में भी अत्यंत सफल कहा जा सकता है। विभिन्न नायिकाओं संबंधी जो छंद इसमें दिए गए हैं, उनमें अधिकांश इतने कवित्वपूर्ण हैं कि परवर्ती कवि भी उनसे प्रभावित बिना नहीं रहे। इनकी काव्य-शैली का एक उदाहरण देखिए—

सूरदास—कृपाराम के बाद इस काल के दूसरे महत्त्वपूर्ण रीतिकवि सूरदास कहे जा सकते हैं। इन्होंने कृपाराम अथवा अपने परवर्तियों के समान लक्षणों की रचना न कर सीधे लक्ष्य-पदों की रचना द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से यह प्रमाणित कर दिया है कि इस युग में भी रीतिकाल के समान रीतिबद्ध काव्य की रचना हुई; इनके 'सूरसागर' के अनेक पद जहाँ नायिकाभेद और शृंगार रस की सामग्री के शास्त्रीय परिवेश में लिखे हुए प्रतीत होते हैं, वहाँ इनकी 'साहित्यकारी' के पद इन विषयों के अतिरिक्त विविध अलंकारों के उदाहरणों के रूप में प्रत्यक्ष रूप से लिखे हुए कजे जा सकते हैं। रस-सामग्री और अलंकार के साथ-साथ निरूपण

नोट

कीशैली का सर्वप्रथम प्रयोग इसी ग्रंथ में हुआ है–रीतिकाल में याकूब खाँ और राय शिवप्रसाद ने अपने 'रसभूषण' नामक ग्रंथों की इस प्रकार की संक्षेप शैली के लिए इसी से संकेत ग्रहण किया होगा। अंतर केवल इतना ही है कि इनमें जहाँ विवेच्य रस-सामग्री और अलंकार के लक्षण भी लक्षणपरक छंदों में एकसाथ देकर तथा कठिन स्थलों की गद्य में व्याख्या करके विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, वहाँ इसमें पद के अंतिम चरण में उनके नाम-निर्देश के द्वारा अपने कर्म की इतिश्री समझ ली गयी है। वैसे, इतना अवश्य है कि लक्षणों के न होते हुए भी निर्दिष्ट रसांग और अलंकार विशेष का इसमें अन्वेषण किया जा सकता है। लक्षणों के न होने के कारण यह पता लगाना कठिन है कि सूर पर किसका प्रभाव रहा है, पर अलंकारों के विवेचन-क्रम को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि अप्पय दीक्षित के 'कुवलानंद' में गृहीत एतद्विषयक क्रम को ही इसका आधार बनाया गया है। कवित्व की दृष्टि से यदि इस ग्रंथ की परीक्षा की जाए, तो कहना होगा कि दृष्टिकूट-शैली का प्रयोग होने के कारण यह चित्रकाव्य की कोटि की रचना है। किंतु, संस्कृत की तत्सम शब्दावली का प्रयोग करते हुए भी कवि ने ब्रजभाषा के सहज माधुर्य तथा शृंगार और भक्ति का जिस सफलता के साथ सहज निर्वाह किया है, वह निश्चय ही इसके रचयिता की प्रतिभा और भाषा पर उसके सहज अधिकार का परिचायक है।

नंददास–हिंदी-साहित्य के अंतर्गत नंददास यद्यपि भक्त कवि के रूप में ही प्रसिद्ध हैं, तथापि इस काल में रीति-निरूपण की जो धारा कृपाराम से आरंभ हुई थी उसको आगे बढ़ाने वालों में इनका महत्त्व भी असंदिग्ध है। रीति-निरूपण संबंधी इनके एकमात्र ग्रंथ 'रसमंजरी' की रचना 1550 ई. के आसपास हुई थी। इसमें दोहा-चौपाई की शैली में नायक-नायिकाओं तथा भाव, हाव, हेला और रतिभाव का परिचय दिया गया है। भानुदत्त की 'रसमंजरी' के आधार पर इसमें स्वकीया और परकीया के भेदोपभेदों तथा आवश्यकतानुसार नायिकाओं के नौ भेदों के साथ धृष्ट, शठ, दक्षिण और अनुकूल नामक नायक के चार भेदों एवं हावादिक के स्वरूप को समझाया गया है–सामान्य का मात्र उल्लेख किया गया है तथा शेष विषयों को छोड़ दिया गया है; अतएव विवेचन-क्षेत्र और मौलिकता की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं है। इसकी विशेषता इसी बात में निहीत है कि लक्षण-उदाहरणों का चक्कर छोड़कर विभिन्न नायिकाओं के गुण, स्वभाव, चेष्टा आदि के द्वारा उनके स्वरूप को सहज बोधगम्य बना दिया गया है। ग्रंथोद्देश्य के रूप में ग्रंथकार का यह कथन कि एक मित्र की जिज्ञासा शांत करने के लिए मैं नायिकाभेद का वर्णन कर रहा हूँ, इस ओर सहज ही संकेत करता है कि इस काल के अंतर्गत भक्ति के सिद्धांतों के निरूपण के प्रसंग में प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करने के उद्देश्य से नायिकाभेद की जो चर्चा वैष्णव भक्तों के बीच में सामान्यत: हुआ करती थी, उसी के परिणामस्वरूप भक्त कवियों का संपर्क काव्यशास्त्र के साथ बढ़ा और क्रमश: इतर काव्यांगों के विषय में उनका ज्ञानवर्द्धन ही नहीं हुआ, आगे चलकर कुछ कवियों ने तत्संबंधी ग्रंथों का सृजन भी किया।

केशवदास–भक्तिकाल के इतर रीति-निरूपकों की तुलना में व्यापक विवेचन-क्षेत्र को ग्रहण करते हुए प्रखर पाण्डित्य, आचार्यत्व के गांभीर्य, स्वतंत्र चिंतन एवं असाधारण प्रतिभा द्वारा परवर्ती कवियों को प्रभावित करने तथा उनसे उचित सम्मान प्राप्त करने के कारण आचार्य केशव 'रीतिकाल का प्रवर्तक' कहलाने के सहज अधिकारी कहे जा सकते हैं। इनके विषय में ज्ञातव्य है कि ये राजा प्रतापरुद्र के आश्रित सनाढ्य ब्राह्मण पं. कृष्णदत्त के पौत्र और राजा मधुकरशाह से सम्मानित पं. काशीनाथ मिश्र के पुत्र थे तथा ओड़छा-नरेश महाराज इंद्रजीतसिंह इन्हें अपने गुरु के रूप में सम्मान देते थे–इंद्रजीतसिंह के बड़े भाई महाराज रामसिंह इन्हें मंत्री और मित्र के रूप में मानते थे। विद्वानों का अनुमान है कि इनका जन्म 1560 ई. के आसपास और मृत्यु 1601 ई. के लगभग हुई थी। इनके द्वारा रचित ग्रंथ हैं–रसिकप्रिया (1591), रामचंद्रिका (1601), कविप्रिया (1601), रतन बावनी (1607 ई. के लगभग), वीरसिंहदेवचरित (1607), विज्ञानगीता (1610), जहाँगीरजसचंद्रिका (1612), नखशिख और छंदमाला। इनमें 'रसिकाप्रिया', 'कविप्रिया' और 'छंदमाला' रीतिग्रंथ हैं, जिनमें क्रमश: अलंकारों, और छंदों का निरूपण किया गया है। 'रामचंद्रिका' में राम-कथा का प्रबंधात्मक वर्णन है; 'रतनबावनी', 'वीरसिंहदेवचरित' और 'जहाँगीरजसचंद्रिका' आश्रयदाताओं की प्रशस्तिविषयक है; 'विज्ञानगीता' में प्रतीक-शैली में आधायत्मिक विषय को प्रस्तुत किया गया है तथा 'नखशिख' में परंपरागत उपमानों की सहायता से राधा के विभिन्न अंगों का वर्णन हुआ है।

'रसिकप्रिया' में सोलह प्रकाश हैं जिनमें से प्रथम तेरह में क्रमश: शृंगार रस के भेदों, नायक-नायिका

नोट

के भेदों, दर्शन के विविध प्रकारों, मिलन-स्थलों, भाव-हावों, अवस्थानुसार अष्ट नायिकाओं, विप्रलंभ शृंगार के भेदों कामदशाओं, मन के भेदों, मानमोचन के उपायों, करुण और प्रवास विप्रलंभ, सखी के भेदों और उसके विविध कर्मों का निरूपण किया गया है–शेष तीन में क्रमशः शृंगारेतर रसों, वृत्तियों तथा पंचविध रसदोषों का विवेचन है। 'रसिकप्रिया' के समान कविप्रिया भी सोलह प्रभावों में विभक्त है। इनमें प्रथम चार के अंतर्गत आश्रयदाता-वंश, कवि-वंश, काव्य-दूषण और कवि-भेद का वर्णन है, जबकि पाँचवें से आठवों तक के प्रभावों में विभिन्न उपशीर्षकों से सामान्यालंकारों का तथा शेष में विशेष अलंकारों का विवेचन किया गया है। 'छंदमाला' दो भागों में विभक्त है–प्रथम भाग में 77 वर्णवृत्तों तथा द्वितीय में 26 मात्रावृत्तों को लक्षण-उदाहरण-सहित प्रस्तुत किया गया है। अतएव कहा जा सकता है कि इस काल के कवियों द्व ारा गृहीत नायक-नायिकाभेद-निरूपण की साधारण परिपाटी से आगे बढ़कर केशव ने रस, अलंकार, दोष और वृत्ति के विवेचन द्वारा रीति-निरूपण-क्षेत्र के फलक को अधिक विस्तार प्रदान किया। दूसरे, इनके पूर्ववर्तियों ने जहाँ केवल भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' का आश्रय लेकर अपनी दृष्टि सीमित रखी, वहाँ इन्होंने 'रसिकाप्रिया' में इनके अतिरिक्त रुद्रट के 'शृंगारतिलक', विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण', रूपगोस्वामी-कृत 'उज्जवलनीलमणि', वात्स्यायन के 'कामसूत्र' आदि का तथा 'कविप्रिया' में 'दंडी के काव्यादर्श', केशव मिश्र के 'अलंकारशेखर' आदि का आश्रय लेकर अपने दृष्टिकोण को कहीं अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया। इसके साथ ही इन्होंनू स्वतंत्र चिंतन भी किया जिसके परिणामस्वरूप शृंगार में इतर रसों का अंतर्भाव कर उसकी श्रेष्ठता को, तथा काव्य में अलंकारों के महत्त्व को, प्रबल शब्दों में प्रतिपादित करने का इनका प्रयत्न रहा। किंतु, इतना होते हुए भी ये कोई मौलिक योगदान नहीं कर सके। स्वतंत्र चिंतन और सबल प्रतिपादन के कारण इनकी रचनाओं में जो मौलिक उद्भावनाएँ प्रतीत होती हैं वे या तो अशास्त्रीय रह गई हैं या फिर किसी-न-किसी रूप में संस्कृत-काव्यशास्त्र में विद्यमान है। उदाहरण के लिए 'रसिकप्रिया' में वर्णित अनुकूलादि चार प्रकार के नायकों के प्रकाश और प्रच्छन्न नामक उपभेद तथा मुग्धा नायिका के नवलवधू, नवल अनंगा और लज्जाप्रहाररति नामक भेद भिन्न प्रसंगों में क्रमशः भोज के 'शृंगारप्रकाश' तथा शिंगभूपाल के 'रसावर्णसुधाकरं' में देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार 'कविप्रिया' में निरूपति अंध, वधिर और पंगु नामक दोष मम्मट द्वारा निरूपति प्रसिद्धविरुद्ध, असमर्थ और हत्तवृत्ता से पृथक् नहीं कहे जा सकते–अलंकार निरूपण के लिए ये केशव मिश्र और दंडी के ऋणी है। उधर शृंगार के रसराजत्व और उसमें अन्य रसों के अंतर्भाव का संकेत भोज के 'शृंगारप्रकाश' में मिलने से इनकी इस प्रकार की मान्यताओं में कोई अद्भुत बात है ही नहीं, साथ में इन्होंने उदाहरणों द्वारा उनको अंतर्भुक्त करने का जो प्रयत्न किया है, वह अशास्त्रीय ही नहीं; अपने-आपमें हास्यास्पद भी बन गया है। इन सीमाओं के रहते हुए भी अपनी बात को प्रबल शब्दों में कहने का साहस और उसे प्रमाणित करने का सामर्थ्य, दोनों ही विद्यमान हैं–यह बात दूसरी है कि अतिवाद अथवा मनोवैज्ञानिकता के अभाव में इनकी बात किसी को मान्य न हो अथवा अशास्त्रीय समझी जाए। कदाचित इसी गुण कारण रीतिकाल के अनेक कवि इनके सिद्धांतों का अनुसरण न करते हुए भी इन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते रहे।

आचार्यत्व के समान कवित्व की दृष्टि से भी केशव का अत्यंत गौरवपूर्ण स्थान है। भक्तिकालीन कवियों में संभवतः ये पहले कवि हैं जिन्होंने ब्रजभाषा में मुक्तकों के साथ-साथ प्रबंधकाव्य की रचना का सूत्रपात किया। विज्ञानगीता, वीरसिंहदेवचरित, जहाँगीरचंद्रिका, रतनबावनी और रामचंद्रिका-ये पाँच ग्रंथ इनकी प्रबंध-रचनाएँ कही जा सकती है। इनमें 'रामचंद्रिका' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसमें महाकाव्य की शैली अपनाई गई है। किंतु, अनेक ऐसे विद्वान हैं जो इसके महाकाव्यत्व को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। उनका कहना है कि इस ग्रंथ में न तो वह कथाक्रम है जो महाकाव्य के लिए अपेक्षित है और न समुचित कथा प्रवाह का ही इसमें सम्यकू निर्वाह किया गया है–विभिन्न प्रसंगों को भी इसके रचयिता ने अपनी रुचि के अनुसार विस्तार और संकोच प्रदान कर दिया है। दूसरी ओर चरित्र-चित्रण और भाषा-शैली की दृष्टि से यह ग्रंथ अपने-आप में अव्यस्थित ही है। किंतु फिर भी इसके महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्थान-स्थान पर छंद-परिवर्तन भले ही इसके प्रवाह में व्याघात उत्पन्न कर देता हो, पर शैली की दृष्टि से तो यह नया प्रयोग है ही। इसी प्रकार विषयवस्तु में वर्णन का अनुपात न होना भी इस बात का द्योतक है कि ग्रंथकार जीवन के सरस प्रसंगों को ही मनोयोग के साथ ग्रहण करना उचित समझता रहा है। इधर राजकीय वर्णनों और संवादों की दृष्टि से तो यह काव्य अपने-आप में इतना अनूठा है कि इस सीमा तक

नोट

हिंदी-साहित्य का कोई भी कवि नहीं पहुँच पाया। वस्तुत: 'रामचंद्रिका' केशव का असाधारण महाकाव्य है, जिसमें परंपरा-पालन के स्थान पर वैशिष्ट्य-सन्निवेश का ध्यान अधिक रखा गया है। 'रामचंद्रिका' के अतिरिक्त जहाँ तक शेष चार प्रबंधकाव्यों का प्रश्न है, उनमें प्रथम का महत्त्व जहाँ तत्व-चिंतन तक ही सीमित रहा है, वहाँ शेष तीन ऐतिहासिक सामग्री के लिए प्रामाणिक स्रोत हो सकते हैं। कवित्व की दृष्टि से इनमें 'रतनबावनी' को थोड़ा आदर दिया जास कता है, जिसमें वीर रस का उत्कृष्ट रूप दृष्टिगोचर हो सकता है–अन्य दो में आध्यात्मिकता का अच्छा निर्वाह हुआ है, पर ये कवित्व की दृष्टि से उतने ऊँचे नहीं उठ सके; वीर रस के सम्यक् परिपाक के स्थान पर इनमें अधिकांशत: राजविषयक रति का निर्वाह ही रह गया।

मुक्तक काव्यों में केशव के रसिकप्रिया, और नखशिख–ये तीन ग्रंथ ही आते हैं। इनका वर्ण्य विषय मुख्यत: श्रृंगार ही है, यद्यपि 'रसिकप्रिया' के अंतर्गत इतर रसों का संक्षिप्त वर्णन भी हुआ है तथा 'कविप्रिया' में कवि के आश्रयदाता इंद्रजीतसिंह की प्रशस्ति संबंधी अनेक छंद समाविष्ट हैं। यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि इनका रचयिता रसिक होते हुए भी रस का समुचित परिपाक करने में पूर्ण रीति से समर्थ नहीं हो पाया। इसका मुख्य कारण यही है कि उसने रस-परिपाक को अनुभावों के वर्णन तक ही सीमित समझा है–संचारियों का वर्णन उसकी कविता में खोजने पर ही मिलता है। दूसरी ओर, इस व्यक्ति ने प्रतिभा होने पर भी उसका समुचित उपयोग नहीं किया। किसी भी विषय को रसात्मक बनाने के लिए कल्पना के उचित प्रयोग द्वारा जिस भव्य चित्र-योजना की अपेक्षा होती है उसको वह प्राय: उपेक्षित ही कर गया है। इसका कारण वस्तुत: यही मानना चाहिए कि इस प्रकार के वर्णनों में उसका मन नहीं रमा-बुद्धि के सहारे ही सब कुछ किया गया है, क्योंकि दूसरी ओर राजसी ठाठबाट के वर्णनों में उसका व्य अत्यंत निखरा हुआ प्रतीत होता है। अभिव्यंजना की दृष्टि से भी केशव का समग्र साहित्य शिथिल कहा जाएगा। उसमें न तो भावों के अनुकूल गुण और रीति का उपयोग किया गया है और न शब्दों का ही यथार्थ प्रयोग हुआ है। वस्तुओं के रूप, रंग, आकार आदि को स्पष्ट करने के लिए जिन उपमानों की अपेक्षा होती है उनको प्रस्तुत करने पर भी विषयों को अस्पष्ट अथवा हास्यापद बना दिया गया है। इसके अतिरिक्त छंदों में भी कहीं-कहीं अनगढ़पन है। न्यूनपदत्व और अधिकपदत्व के कारण इनमें और भी भोंडापन आ गया है। भावों की मौलिकता की भी इनमें न्यूनता है–अधिकांश विदग्ध-उक्तियाँ संस्कृत की उक्तियों का ब्रजभाषा में रूपांतरमात्र हैं। फिर भी, यह मानना होगा कि यदि केशव का आविर्भाव न हुआ होता तो रीतिकालीन कवि अपने युग की कविता को कला-शिल्प की दृष्टि से मूल्यवान् बना सकते; इसमें संदेह है। इनकी कविता से एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

केशोदास लाख लाख भाँतिन के अभिलाष,
बारि दो री बावरी न बारि हिए होरी सी।
राधा हरिके री प्रीति सबते अधिक जानि,
रति रतिनाह हू में देखो रति थोरी सी।।
तिनहूं में भेद न भवानि हूँ पै पार्‌यो जाइ,
भारती की भारती है कहिबे को भोरी सी।
एकै गत एकै मति एकै प्राण एकै मन,
देखिवे को देह द्वै हैं नैनन को जोरी सी।।

रहीम-हिंदी में केशव के बाद रीति-निरूपण-कर्म में रीतिकाल के अनेक कवियों को प्रयत्क्ष रूप से प्रभावित करने के बाद अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना को भक्तिकाल और रीतिकाल को जोड़नेवाले कवियों की श्रेणी में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। रीतिकवियों के रूप में इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं–'नायिकाभेद' और 'नगरशोभा'। नायिकाभेद में नायक-नायिकाभेद का तथा 'नगरशोभा' में विभिन्न वर्णों के अनुसार विभिन्न

नोट

नायिकाओं का वर्णन किया गया है। 'नायिकाभेद' की रचना भानुदत्त की 'रसमंजरी' के आधार पर की गई है और इसमें नायक-नायिका के अतिरिक्त सखी और उसके कर्मों तथा चतुर्विध दर्शन का वर्णन बरवै छंद में किया गया है। इस ग्रंथ में एक-दो लक्षणपरक छंदों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें संकलित जो बरवै छंद आज मिलते हैं, वे मूल ग्रंथ के उदाहरणमात्र हैं—लक्षणपरक छंदों में से अधिकांश लुप्त हो गए हैं। जो हो, इस ग्रंथ के आधार पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि ग्रंथकार ने अत्यंत मनोयोग के साथ अपने विषय का विवेचन किया है। मौलिकता की दृष्टि से इसका भले ही महत्त्व न हो, किंतु स्वच्छ, सुबोध सरस एवं संक्षिप्त विवेचन की दृष्टि से यह अपने-आपमें अद्वितीय रचना है। अवधी भाषा में लिखे गए रीति-निरूपण संबंधी ग्रंथों में संभवत: यह प्रथम है। यही बात 'नगरशोभा' के विषय में कही जा सकती है। इसका आधार यद्यपि कोई काव्यशास्त्रीय ग्रंथ नहीं रहा, तथापि इसमें भी कोई बात नहीं है—वण व्यिवसाय के आधार पर दस प्रकार की सखियों का वर्णन केशव की 'रसिकप्रिया' में भी हुआ है। हो सकता है कि वहीं से संकेत ग्रहण कर इन्होंने नायिकाभेद का यह आधार बना लिया हो। वैसे भी, शास्त्रीय दृष्टि से इस प्रकार की उद्‌भावना का महत्त्व नहीं; कारण, नायिकाभेद का मूल आधार स्त्री का पुरुष के प्रति अथवा पुरुष का स्त्री के प्रति रतिभाव है, जिसका इन भेदों के मूल में कोई स्थान नहीं। पर चूँकि देव आदि रीतिकाल के कतिपय कवियों ने इस प्रकार का वर्णन किया है, अतएव इस दिशा में ये उनके प्रेरक तो कहे ही जा सकते हैं। जहाँ तक इनके कवित्व का प्रश्न है, इनकी रचनाएँ सरस हैं। भक्ति और नीति-जैसे शुष्क विषयों को भी इन्होंने कांतासम्मत उपदेश का सरस रूप दे दिया है। ये सीधी-सादी बात को सीधे-सादे शब्दों में कुछ इस प्रकार से व्यक्त करते हैं कि तद्‌गत बिंब की स्वच्छ रेखाएँ सहृदय के मन:पट पर उभरकर गहरा प्रभाव छोड़ जाती हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि कवि ने अपनी रचनाओं में वैयक्तिक एवं लोक के अनुभवों को ही स्थान दिया है—दूरारूढ़ कल्पना का आश्रय लेकर विचित्र अनुभूतियों का सन्निवेश करने का प्रयत्न नहीं किया।

सुंदर कविराय—लक्षण-उदाहरण की रीति-निरूपण-शैली में शृंगार रस को रसराज मानकर उसके आलंबन नायक-नायिकाभेद का विशेष तथा इतर अंगों का सामान्य विवेचन कर सुंदर कविराय ने इस युग के केशव, सेनापति आदि रीतिकारों और रीतिकाल के इन विषयों के विवेचक कवियों के बीच की कड़ी को जोड़ने का कार्य किया है। ये जाति के ब्राह्मण और ग्वालियर के रहने वाले थे तथा इन्हें शाहजहाँ का आश्रय प्राप्त था। 'सुंदर शृंगार' (1631) इनका नायक-नायिकाभेद और शृंगार-रस-निरूपसण संबंधी प्रसिद्ध ग्रंथ है। इनके साथ ही इसमें सखी-कर्म-और दूती-भेद, नायक-भेद और नर्मसचित, दर्शन-भेद, संयोग शृंगार और हाव-भाव, विप्रलंभ शृंगार और दश कामदशाओं तथा उद्दीपन विभावों का वर्णन किया गया है। लक्षण सामान्यत: दोहों में हैं और उदाहरण कवित्त, सवैया, आदि छंदों में। विवेचन का आधार मुख्य रूप से भानुदत्त की 'रसमंजरी' प्रतीत होती है—अंतर केवल इतना ही है कि नायिकाभेद में मध्या के अतिविश्रब्ध नवोढ़ा, परकीया के कन्यका तथा नायक के प्रोषितपति और प्रोषितवैशिक भेदों को जहाँ इन्होंने स्वीकार नहीं किया है, वहाँ रूप और प्रेम के आधार पर मानी नायक के दो उपभेदों की उदभावना की है तथा कामशास्त्र के आधार पर पद्मिनी आदि चार प्रकार की नायिकाओं का सन्निवेश केशव के समान किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि मौलिकता की दृष्टि से इस ग्रंथ का विशेष महत्त्व नहीं है, पर सुबोध लक्षणों और तदनरूप उदाहरणों ने इसे अत्यंत उपयोगी बना दिया है। इसके अतिरिक्त भाव भाषा आदि की दृष्टि से भी यह अपने-आपमें पर्याप्त कवित्वपूर्ण है—स्वच्छ, गंभीर भावों की प्रसादगुण-संपन्न स्वच्छ भाषा में अभिव्यक्ति से इनकी कविता सामान्यत: सरस बन गई है।

न्यामत खाँ जान—केशव और चिंतामणि के बीच विविधांग-निरूमण-शृंखला की कड़ी के रूप में न्यामत खाँ जान का नाम भी लिय जा सकता है। अधिकांशत: प्रेममार्गी ग्रंथों की रचना करने के कारण ये यद्यपि मुख्य रूप से प्रेममार्गी कवि के रूप में ही प्रसिद्ध हैं, तथापि काव्यांग-निरूपण संबंधी ग्रंथों की रचना में मनोयोग प्रदर्शित करने के कारण इन्हें भक्तिकाल के अंतिम चरण के उन रीतिनिरूपकों की श्रेणी में भी सहज ही परिगणित किया जा सकता है जिन्होंने रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति के प्रसार के लिए उपयुक्त वातावरण उपस्थिति किया। संप्रति इनके रीतिनिरूपण संबंधी चार ग्रंथ—रसकोश (1619), कविवल्लभ (1647), सिंगारतिलक (1652) तथा रसमंजरी (1652) ही उपलब्ध हैं। इनमें 'रसकोश' जहाँ नवरस और

नोट

नायक-नायिकाभेद-विवेचन संबंधी है, वहाँ 'कविवल्लभ' में दोष, गुण, अलंकार और छंद का विवेचन किया गया है–शेष दो क्रमशः रुद्रभट्ट के 'शृंगारतिलक' और भानुदत्त की 'रसमंजरी' के अनुवाद हैं। इन ग्रंथों में इन्होंने यद्यपि अपने विवेचन के आधार को स्पष्ट नहीं किया, तथापि लक्षणों को देखने से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि ग्रंथकार ने भानुदत्त, रुद्रभट्ट और दंडों के ग्रंथों का आश्रय ग्रहण किया है–छंदोंविवेचन के लिए 'प्राकृतपैंगलम्' और भट्ट केदार के 'वृत्तरत्नाकर' जैसे प्रचलित आधार-ग्रंथों के स्थान ब्रजभाषा के किसी छंदोंविवेचन विषयक ग्रंथ को आधार बनाया गया है। कतिपय लक्षण ऐसे ही हैं जिन पर मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का प्रभाव स्पष्ट है। अतएव कह सकते हैं कि लक्षणों की रचना में इन्होंने यथारुचि संस्कृत के अनेक ग्रंथों को आधार बनाया है, जो इनके दृष्टि कोण की व्यापकता का परिचायक है। मौलिकता की दृष्टि से इनमें कोई नवीन बात देखने को नहीं मिलती–सामान्यतः प्रकारांतर से वही बातें विवेच्य विषयों संबंधी लक्षणों में कही गई हैं, तो पूर्ववर्ती संस्कृताचार्यों तथा केशव आदि हिंदी-रीतिनिरूपकों द्वारा कही गई है। हाँ, भाषा के व्यास और समास नाम परंपरा-प्रचलित दो भेद बताते हुए अपने लक्ष्य ग्रंथों में इन्होंने काव्य-भाषा के विषय में जो यह कहा है–

अच्छर सरल सरल ही भाव, समझता ही बाढ़ै चित चाव।
अच्छर सरल होइ सुध भाषा, ताकी सब करिहैं अभिलाषा।

ऊकति विसेष सांचु कैं जानहु, भाषा जो आवै सो जानहु।
ऊकति भली भाषा में आवै, तौ यहु सोना सुगंध कहावै।

उसके आधार पर यह सहज ही स्थापित किया जा सकता है कि इनके समय तक आते-आते कविता को कविजन कला के रूप में ग्रहण करने के अतिरिक्त तद्विषयक निमित्त दृष्टिकोण भी रखने लगे थे। जान ने कदाचित् इसीलिए केवल उन्हीं काव्यांगों का विवेचन किया है जिनकी उपस्थिति अथवा बहिष्कार काव्योक्ति का सुंदर बनाने के लिए अनिवार्य है। विवेच्य काव्यांगों के विषय में इनके ये विचार द्रष्टव्य हैं–

(क) *भोजन नीरस लागिहै, लौन बिना कह जान।*
त्यौं नौ रस बिनु ग्रंथ हैं, ताते करौं बखान।।

(ख) *गुननि सहित दूषन रहित, कवित नारि आकार।*
अलंकार बिनु यौं लगत, ज्यौं तिय बिनु शृंगार।।

कहना न होगा कि ये विचार मौलिक ने होते हुए भी इनके निर्भ्रान्त दृष्टिकोण के परिचायक होने कारण इनके आत्मविश्वास को भी प्रकट करते हैं। यही कारण है कि इनके लक्ष्ण सामान्यतः स्वच्छ एवं सुबोध बन पड़े हैं–इनके दृष्टिकोण से भले ही कोई सहमत न हो, पर उसमें किसी प्रकार का कलुष नहीं देख सकता। किंतु दुर्भाग्य की बात है कि इतने स्पष्ट विचार रखे हुए एवं 71 ग्रंथों की रचना करने पर भी इनका कवित्व अत्यंत साधारण स्तर पर ही रह गया है। वास्तव में इन्होंने अपनी प्रतिभा का प्रयोग कविता के स्थान आदि काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के प्रणयन में ही किया होता, तो संभव है कि ये कुछ अधिक स्थायी योगदान कर गए होते।

अन्य रीतिकार–रीतिनिरूपण में प्रत्यक्ष रूप में भाग लेने वाले कवियों के साथ ही भक्तिकाल के अंत में कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने रीति-प्रभावित काव्य की रचना कर रीतिकाल के लिए उसे क्षेत्र में भी पृष्ठभूमि का निर्माण किया। इनमें प्रमुख रूप से उल्लेखित हैं–बलभद्र मिश्र और मुबारक। ओरछा-निवास कवि **बलभद्र** (रचना-काल 1580 ई.) हिंदी के ख्यातनामा कवि केशवदास के अग्रज थे। इनके द्वारा लिखित पाँच ग्रंथों का उल्लेख मिलता है–शिखनख बलभद्री व्याकरण, गोवर्द्धन सतसई टीका, हनुमन्नाटक तथा दूषण विचार। इस समय इनमें से प्रथम कृति ही उपलब्ध है। इसमें नायिका की अंग-छवि का नखशिख-पर्यन्त स्वच्छ आलंकारिक वर्णन मिलता है। रूप-वर्णन में तन्मयता के साथ कवि ने भाषा पर अपने अधिकार का भी असंदिग्ध प्रमाण दिया है। इनके परिवतर्ती कवियों में मोहनलाल मिश्र (रचना-काल 1589 ई.) की 'तिल शतक' और 'अलक शतक' नखशिख-वर्णन संबंधी संक्षिप्त कृतियाँ हैं जिनमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के माध्यम से सरस कल्पनामूलक रूप-चित्रण मिलता है। भक्तिकालीन रीतिकाव्य में ये अपने ढंग की एकमात्र कृतियाँ हैं।

नोट

9.4. सारांश (Summary)

- चौदहवीं शताब्दी के अंत में देवप्रभ द्वारा रचित 'कुमारपाल रासो' भिन्न शैली की रचना है। वह कृति जैन-रास-काव्यों तथा वीर-प्रशस्तिपरक 'रासो' काव्यों की प्रवृत्तियों का समन्वय प्रस्तुत करती है। इसमें राजा कुमारपाल की वीरता, उदारता, अहिंसा-प्रेम तथा नैतिकता-प्रचार का वर्णन है। एक ओर तो यह काव्य जैन धर्म की प्रवृत्तियों का काव्य की सरस भाव-भूमि पर अप्रत्यक्ष रूप में प्रसार करता है और दूसरी ओर राजा के अव्यक्तित्व तथा लोकमंगलकारी प्रभाव को भी व्यापक बनाता है। समस्त रचना में धार्मिकता कहीं पर भी उभरकर काव्य की सरसता में बाधक नहीं बनी।
- रीति-निरूपण की यह प्रवृत्ति भक्ति के प्रखर की तुलना में अत्यंत क्षीण रही-भक्ति की पूरक होकर ही आविर्भूत हुई और उसके सहारे से ही आगे बढ़ती रही, तथापि शनैः-शनैः राजदरबारों में प्रवेश करते ही यह भक्ति के अवलंबन को छोड़कर स्वतंत्र प्रवृत्ति का रूप धारण कर उत्तरोत्तर पुष्ट होती गई। रीतिकाल में इसी का पुष्ट रूप दृष्टिगत होता है।

9.5. शब्दकोश (Keywords)

हस्तलिखित – हाथ से लिखी हुई
नीतिकार – योजना बनाने वाला
सम्मान – इज्जत देना, मान देना।

9.6. अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. (अ) वीरकाव्य (ब) प्रबंधात्मक चरितकाव्य पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
2. अकबरी दरबार काव्य से क्या तात्पर्य है? समझाइए।
3. रीतिकाव्य तथा इसके प्रमुख कवियों के विषय में उल्लेक कीजिए।
4. वीरकाव्य से क्या तात्पर्य है?
5. **रिक्त स्थानों की पूर्ति करें** (Fill in the blanks) :
   1. ..... की भाषा-शैली ओजपूर्ण है और इसमें वीर रस का सुंदर परिपाक मिलता है।
   2. कुंभकर्ण कृति 'रतन रासो' में रतलाम के महाराज ..... का प्रशस्ति वर्णन है।
   3. जैन तीर्थंकर महावीर के प्रथम गणघर गौतम इस काव्य के ..... हैं।
6. **बहुविकल्पीय प्रश्न** (Multiple Choice Questions) :
   1. भक्तिकाल में नीतिकाव्य के कितने रूप प्राप्त होते हैं?
      (क) पाँच (ख) आठ
      (ग) तीन (घ) दस
   2. अकबरी दरबार में भूमिकर-विभाग के मंत्री ..... भी काव्यानुरागी थे।
      (क) चुतुर्भुजदास (ख) पृथ्वीराज
      (ग) बीरबल (घ) राजा टोडरमल
   3. कौन अरबी, फारसी और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता और हिंदी के सुकवि थे?
      (क) रहीम (ख) जहांगीर
      (ग) शाहजहा (घ) बीरबल

नोट

7. निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य बताएँ–

1. हिततंरगिनी कुल मिलाकर 400 छंदों का गंथ है तथा पाँच तंरगों में विभक्त है।
2. नंददास के बाद कबीर इस काल के दूसरे महत्त्वूर्ण रीतिकवि कहे जा सकते हैं।
3. रीति-निरूपण संबंधी ग्रंथ 'रासमंजरी' की रचना 1550 ई. के आसपास हुई थी।
4. आचार्यत्व के समान कवित्व की दृष्टि से भी केशव का अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है।
5. अभिव्यंजना की दृष्टि से भी केशव का समग्र साहित्य शिथिल नहीं कहा जाएगा।
6. सुंदर कविराम जाति के ब्राह्मण और उत्तर प्रदेश के रहने वाले थे।

9.7. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें
1. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – राजकुमार वर्मा
2. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य – बेचन
3. हिंदी भाषा – कैलास चंद्र भाटिया
4. हिंदी भाषा का उद्‌भव और विकास – गुणानंद जुयाल

ईकाई-4
(Unit–4)

नोट

रीतिकालीन (उत्तर मध्यकालीन) कवियों का जीवन–प्रमुख कवि एवं उनकी काव्यगत विशेषताएँ

रूपरेखा

10.1 उद्देश्य (Objectives)
10.2 प्रस्तावना (Introduction)
10.3 रीतिकाल के प्रमुख कवि एवं उनकी काव्यगत विशेषताएँ
- **10.3.1** केशवदास
- **10.3.2** मतिराम
- **10.3.3** भूषण
- **10.3.4** बिहारीलाल
- **10.3.5** देव
- **10.3.6** घनानंद
- **10.3.7** पद्माकर

10.4 हिंदी साहित्य का संपूर्ण इतिहास
10.5 नामकरण की समस्याएँ
10.6 हिंदी साहित्य का काल विभाजन
10.7 सारांश (Summary)
10.8 शब्दकोश (Keywords)
10.9 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
10.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

10.1. उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- रीतिकाल के प्रमुख कवियों के विषय में जानने में।
- रीतिकाल के कवियों की काव्यगत विशेषताएँ समझने में।

10.2. प्रस्तावना (Introduction)

रीतिकाल के कवियों में पद्माकर का नाम आदर से किलया जाता है। बिहारी के बाद सर्वाधिक लोकप्रिय कवि रीतिकाल के हैं। रीतिकाल के अन्य कवियों ने लोकजीवन की उपेक्षा की है। दरबारी वातावरण, श्रृंगारप्रियता एवं रसिकता के कारण उन्हें साधारण जनता के दुख-दर्द की न तो अनुभूति थी और न ही जनता से उनका कोई जुड़ाव था, इसलिए रीतिकाल में लोकजीवन उपेक्षित रहा है। त्यौहारों का कुछ चित्रण अवश्य पदमाकर जैसे कवियों ने किया।

10.3. रीतिकाल के प्रमुख कवि एवं उनकी काव्यगत विशेषताएँ

नोट

10.3.1 केशवदास (1560-1617 ई.)

आचार्य केशवदास को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने समय-विभाग की दृष्टि से यद्यपि भक्तिकाल में स्थान दिया है तथापि प्रवृत्ति की दृष्टि से वे रीतिकाल के अंतर्गत आते हैं। वस्तुत: केशव से हिंदी की रीति परंपरा प्रारंभ होती है। वे हिंदी के प्रमुख अलंकारवादी आचार्य माने जाते हैं।

केशव का जन्म 1560 ई. और मृत्यु 1617 ई. में हुई। ये ओरछा नरेश महाराज रामसिंह के भाई इंद्रजीत सिंह के आश्रय में रहते थे। केशव को अलंकारवादी इसलिए कहा जाता है क्योंकि वे अलंकारहीन कविता को सुंदर ही नहीं मानते–

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिंदु न विराजई कविता बनिता मित्त।।

आचार्य केशवदास के लिखे नौ ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं–

रचना का नाम	रचनाकाल
1. रसिकप्रिया	1591 ई.
2. रामचंद्रिका	1601 ई.
3. कविप्रिया	1601 ई.
4. रतन बावनी	1607 ई.
5. वीरसिंह देव चरित	1607 ई.
6. विज्ञागीता	1607 ई.
7. जहाँगीर जसचंद्रिका	1612 ई.
8. नख-शिख	1612 ई.
9. छंदमाला	1612 ई.

इनमें **रसिकप्रिया, कविप्रिया** और **छंदमाला**–रीतिपरक ग्रंथ हैं। रसिकप्रिया 16 प्रकाशों में विभक्त लक्षण ग्रंथ जिसका मूल प्रतिपाद्य शृंगार विवेचन है। इस ग्रंथ के **13 प्रकाशों** में तो शृंगार चर्चा है तथा शेष तीन प्रकाशों में अन्य रसों, वृत्तियों एवं काव्य दोषों का विवेचन है।

कविप्रिया की रचना केशव ने अपने आश्रयदाता राजा इंद्रजीत सिंह की राजनर्तकी **'राय प्रवीन'** को काव्य शिक्षा देने के उद्देश्य से की थी। अलंकार निरूपण के साथ-साथ इसमें काव्य रीति, काव्य दोष आदि का भी विशद विवेचन है। केशव के आचार्यत्व एवं कवित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति इसी ग्रंथ में हुई है।

छंदमाला में कवि ने 77 छंदों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए है। **'रामचंद्रिका'** के केशवदास द्वारा रामकथा पर लिखा गया उत्कृष्ट महाकाव्य है जबकि **विज्ञानगीत** एक **आध्यात्मिक** ग्रंथ है जिसमें कवि के दार्शनिक विचारों को अभिव्यक्ति मिलती है।

केशव ने अलंकार विवेचन **'दंडी'** के **काव्यादर्श** तथा केशव मिश्र द्वारा रचित **'अलंकार शेखर'** नामक संस्कृत ग्रंथों के आधार पर किया है। केशव द्वारा किया गया अलंकार विवेचन यद्यपि सूक्ष्म एवं व्यापक है। तथापि कुछ अलंकारों के लक्षण अस्पष्ट हैं तथा लक्षण और उदाहरण में असंगति मिलती है।

केशव की कविता में अलंकरण, चमत्कार प्रदर्शन एवं पांडित्य प्रदर्शन की प्रमुखता है। उनकी कविता में क्लिष्टता आ गई है जिसके कारण उन्हें **'कठिन काव्य का प्रेत'** कहा जाता है। उनकी कविता की क्लिष्टता के विषय में यह उक्ति प्राय: कही जाती है।

कवि कों देन न चहै विदाई। पूछे केशव की कविताई।।

आचार्य शुक्ल ने उसके संबंध में कहा है–"केशव को कवि हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न था जो एक कवि में होनी चाहिए। कवि कर्म में सफलता के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए वैसा उन्हें प्राप्त न था। केशव केवल उक्ति वैचित्र्य एवं शब्द क्रीड़ा के प्रेमी थे।"

नोट

केशव की कविता में प्रबंध रचना के गुण भी नहीं थे। शुक्ल जी ने प्रबंध काव्य के लिए तीन बातों अनिवार्य मानी हैं–1. संबंध निर्वाह, 2. कथा के गंभीर और मार्मिक स्थलों की पहचान और 3. दृश्यों की स्थान गत विशेषता। केशव में इन तीनों का अभाव है। प्रबंध रचना के योग्य न तो केशव में शक्ति थी और न अनूभूति–ऐसा निष्कर्ष शुक्ल जी का है। प्रबंध रचना के योग्य न तो केशव में शक्ति थी और न अनुभूति–ऐसा निष्कर्ष शुक्ल जी का है।

रामचंद्रिका से केशव को सर्वाधिक सफलता मिली है, संवाद योजना में। संवादों में पात्रानुकूल क्रोध, उत्साह आदि की सुंदर व्यंजन है। **केशव की रचनाओं में सूर, तुलसी जैसी सरसता और तन्मयता चाहे न हो पर काव्यांगों का विस्तृत परिचय कराकर उन्होंने आगे के लिए मार्ग खोला।**

केशव की रचना से कुछ प्रसिद्ध **पंक्तियाँ** यहाँ प्रस्तुत हैं–

1. *मूलन ही की जहाँ अधोगति केसव गाइय।*
   होम हुतासन धूम नगर एकै मलिनाइय।।
   दुर्गति दुर्गन ही जो कुटिलगति सरितन ही में।
   श्री फल कौ अभिलाष प्रगट कविकुल के जी में।।
2. *कौन के सुत, बालि के, वह कौन बालि, न जानिए।*
   काँख चापि तुम्हें जो सागर सात न्हात बसनिये।।
3. *सिंधु तर्‌यो उनको बनरा,*
   तुमपै धनुरेख गई न तरी।
   बानर बाँधत सा न बंध्यो उन,
   वारिधि बांधि के बाटकरी।
   अजहूं रघुनाथ प्रताप की बात,
   तुम्हें दसकंठ न जाति परी।
   तेलनि तूलनि पूंछ जरी न
   जरी जरी लंक जराइ जरी।।
4. *कै स्रोनित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।*
   यह ललित लाल कैंधों लसत दिगभामिनि के भाल को।।
5. *तिन नगरी तिन नागरी प्रतिपद हंसक हीन।*
   जलजहार सोभित न जहं प्रगट पयोध पीन।।
6. *विधि के समान हैं विमानीकृत राजहंस*
   विविध विवुधयुत मेरु सो अचल है।
   दीपति दिपति अति सातों दीप दीपियतु,
   दूसरो दिलीप सा सुदक्षिणा को बलु है।

10.3.2 मतिराम (1604-1701 ई.)

मतिराम रीतिकाल के प्रमुख कवियों में हैं तथा प्रसिद्ध कवि भूषण और चिंतामणि के भाई कहे जाते हैं। डॉ. नगेंद्र ने इनका जन्म 1604 ई. के आसपास माना है। इनके पिता का नाम विश्वानाथ त्रिपाठी था तथा ये सम्राट जहाँगीर, बूँदी नरेश राव भावसिंह हाड़ा, कुमायूँ नरेश ज्ञानचंद तथा बुंदेलखण्ड के स्वरूप

सिंह बुंदेला के आश्रय में रहे थे। इनके द्वारा रचित ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं–

1.	फूलमंजरी	रचनाकाल 1619 ई., जहाँगीर के आश्रय में लिखी गई
2.	ललित ललाम	रचनाकाल 1661-64 ई. भावसिंह के आश्रय में
3.	सतसई	रचनाकाल 1681 ई., भोगनाथ के आश्रय में
4.	अलंकार पंचाशिका	रचनाकाल 1690 ई., ज्ञानचंद के आश्रय में
5.	वृत्तकौमुदी	रचनाकाल 1701 ई., स्वरूप सिंह बुंदेला के आश्रय में
6.	रसराज	रचनाकाल 1633-43 ई., स्वतंत्र रूप से लिखा गया।
7.	लक्षण श्रृंगार	उपलब्ध नहीं है।
8.	साहित्यसार	उपलब्ध नहीं है।

रीतिग्रंथों की दृष्टि से इनकी उत्कृष्ट रचनाएँ हैं–रसराज और ललित ललाम। आचार्य शुक्ल के अनुसार–"रस और अलंकार की शिक्षा में इनका उपयोग बराबर चलता आया है।"

'रसराज' में श्रृंगार रस एवं नायिका भेद का विवेचन 'भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रहीम' के बरवै नायिका 'भेद' के आधार पर किया गया है। पहले दोहे में लक्षण देकर फिर कवित्त और सवैये में सरस उदाहरण दिए गए हैं। इनकी भाषा की प्रशंसा करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है–"रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में पद्माकर को छोड़ और किसी कवि में मतिराम की सी चलती भाषा और सरल व्यंजना नहीं मिलती। उनकी भाषा में नाद सौंदर्य भी विद्यमान है।"

मतिराम की कविता में न तो भावों की कृत्रिमता है और न भाषा की। भाषा शब्दाडम्बरों से पूरी तरह मुक्त है। केवल आनुप्रासिकता के लिए अशक्त शब्दों की भरती इन्होंने नहीं की। दूर की कौड़ी लाने के फेर में भी वे नहीं पड़े इसलिए उन्होंने नायिका के विरहताप का वैसा वर्णन नहीं किया जैसा बिहारी ने करके उसे मजाक की हद तक पहुँचा दिया।

'रसराज' और **'ललित ललाम'** अपने विषय के अनुपम ग्रंथ हैं **'ललित ललाम'** में अलंकारों के उदाहरण बहुत सरस एवं स्पष्ट हैं। मतिराम सतसई के दोहे भी बिहारी सतसई की टक्कर के हैं।

उनके दोहों को लोग भ्रमवश बिहारी का दोहा समझ बैठते हैं, क्योंकि ये बिहारी सतसई के दोहों से किसी भांति कम नहीं आंके जा सकते।

मतिराम के दो सवैये यहाँ प्रस्तुत हैं–

1. *कुंदन को रंग फीको लगै,*
   झलकै अति अंगनि चारु गोराई।
   आँखिन में अलसानि चितौन में,
   मंजु विलासनि की सरसाई।
   को बिनु मोल बिकात नहीं,
   मतिराम लहै मुसकानि मिठाई।
   ज्यौं-ज्यौं निहारिए नेरे ह्वै नैननि,
   त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई।।
2. *केलि कें राति अघाने नहीं,*
   दिन ही में लला पुनि घात लगाई।
   'प्यास लगी, कोउ पानी दै जाइयो,
   भीतर बैठि कें बात सुनाई।
   जेठी पठाई गई दुलही, हँसि,
   हेरि हरैं मतिराम बुलाई।

कान्ह के बोल पै कान न दीन्हीं,
सुगेह की देहरि पै धरि आई।।

10.3.3 भूषण (1613-1715 ई.)

नोट

भूषण छत्रपति शिवाजी और पन्ना के राजा छत्रसाल बुंदेला के आश्रय में रहने वाले रीतिकालीन कवि हैं जिन्होंने वीररस की कविताएँ लिखकर अपूर्व ख्याति अर्जित की। चित्रकूट के राजा रुद्रसाह सोलंकी ने इन्हें 'भूषण' की उपाधि दी थी और वे इस नाम से इतने प्रसिद्ध हुए कि इनका वास्तविक नाम ही किसी को नहीं पता। इनका जन्मकाल 1613 ई. माना गया है। भूषण के विषय में कहा जाता है। कि इनकी पालकी में स्वयं महाराज छत्रसाल ने अपना कंधा लगाया था।

भूषण ने जिन दो नायको को अपने वीरकाव्य का विषय बनाया वे अन्याय दमन में तत्पर, हिंदू धर्म के संरक्षक, दो इतिहास प्रसिद्ध वीर महाराज शिवाजी एवं छत्रसाल बुंदेला थे। अतः उनके द्वारा वर्णित प्रशस्तियाँ रीतिकाल के अन्य कवियों जैसी झूठी खुशामद नहीं थी, अपितु भूषण के उद्‌गार सारी जनता के हृदय की संपत्ति बन गए। आचार्य शुक्ल के अनुसार "इन दो वीरों का जिस उत्साह के साथ हिंदू जनता स्मरण करती है, उसी की व्यंजना भूषण ने की है। वे हिंदू जाति के प्रतिनिधि कवि हैं।"

भूषण ने **शिवराज भूषण** और **शिवा बावनी** की रचना महाराज शिवाजी के आश्रय में रहकर की। इनमें से शिवराज भूषण **अलंकार ग्रंथ** है, जिसमें 105 अलंकारों के लक्षण और उदाहरण जयदेव कृत **'चंद्रालोक'** के आधार पर दिए गए हैं। अलंकारों के लक्षण दोहों में तथा उदाहरण कवित्त-सवैयों में हैं। उदाहरण कहीं-कहीं लक्षण के अनुरूप नहीं है। **छत्रसाल दशक** में महाराज **छत्रसाल** की वीरता का वर्णन है तो **शिवा बावनी में शिवाजी** का बखान है।

अब तक भूषण के लिखे उक्त तीन ग्रंथ ही उपलब्ध हुए हैं। कुछ लोग इनके लिखे तीन और ग्रंथों का उल्लेख करते हैं, जिनके नाम हैं–**भूषण उल्लास, दूषण उल्लास, भूषण हजारा।** भूषण की ख्याति आचार्य के रूप में उतनी नहीं है जितनी वीररस के कवि के रूप में है। युगधर्म के अनुरूप उन्होंने अलंकार विषयक ग्रंथ अवश्य लिखा तथापि मूलतः वे ओजस्वी कवि ही हैं। उनकी भाषा ओजपूर्ण तो है, किंतु वह अव्यवस्थित है। उनकी कविता में राष्ट्रीयता विद्यमान है। वे भारतीय संस्कृति के रक्षकों की प्रशंसा में छंद लिखने वाले कवि के रूप में भूषण की कविता के उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

1. *इंद्र जिमि जृंभ पर वाड़व सुअंभ पर*
   रावन सदंभ पर रघुकुलराज हैं।
   पौन वारिवाह पर संभु रतिनाह पर,
   ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं।
   दावा द्रुमदंड पर चीता मृगझुंड पर,
   भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।
   तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर
   त्यों म्लेच्छ वंस पर सेर सिवराज हैं।
2. *मोटी भई चंडी बिन चोटी के चबाय सीस,*
   खोटी भई संपत्ति चकत्ता के घराने की।।
3. *ऊँचे घोर मदंर के अदंर रहन बारी,*
   ऊँचे घोर मदंर के अदंर रहाती हैं।
   भूषण भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
   नगन जड़ातीं तीं वे नगन जड़ाती हैं।।

नोट

4. *दारा की न दौर यह रार नहिं खजुए की,*
बांधिबो नहीं है कैंधों मीर सहबाल को।
बूढ़ति है दिल्ली सो संभारै क्यों न दिल्लीपति
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को।।

10.3.4 बिहारीलाल (1495–1663 ई.)

बिहारी रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं जिनका जन्म 1595 ई. में ग्वालियर में हुआ था। बिहारी के एकमात्र ग्रंथ का नाम 'बिहारी सतसई' है जिसकी रचना सन् 1662 ई. में संपन्न हुई। बिहारी का देहावसान 1663 ई. में हुआ। बिहारी ने यद्यपि कोई लक्षण ग्रंथ नहीं लिखा तथापि उन्हें रीतिशास्त्र की अच्छी जानकारी थी जिसका उपयोग उन्होंने अपनी सतसई में किया है।

बिहारी की ख्याति का मूल आधार उनका अन्यतम ग्रंथ **'बिहारी सतसई'** है जिसमें कुल मिलाकर 713 दोहे हैं। इस ग्रंथ का निर्माण **'गाथा सप्तशती'**, **'अमरुक शतक'**, **'आर्या सप्तशती'** की प्रेरणा से हुआ है। बिहारी जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह अपनी छोटी रानी के प्रेम में इतने आसक्त थे कि राजकाज भूलकर महल से बाहर तक न निकलते थे। तब बिहारी ने यह दोहा लिखकर उनके पास भिजवा दिया है–

नहिं पराग नहिं मधुर नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सौं विंध्यौ आगे कौन हवाल।।

दोहे में निहित व्यंग्यार्थ को समझकर राजा जयसिंह तुरंत बाहर निकल आए और राजकाज में संलग्न हो गए। तब से बिहारी का मान बहुत बढ़ गया। राजा ने उन्हें ऐसे ही सरस दोहे बनाने का निर्देश दिया तथा प्रत्येक दोहे के बदले उन्हें एक अशर्फी (स्वर्ण मुद्रा) दी जाने लगी।

'बिहारी सतसई' मूलत: श्रृंगार रस से ओतप्रोत काव्य है जिसका प्रत्येक दोहा हिंदी साहित्य का एक–एक रत्न माना जाता है। बिहारी सतसई की **पचासों टीकाएँ** लिखी गईं जिनमें से चार–पाँच टीकाएँ अति प्रसिद्ध हैं। इनके नाम हैं–

1. कृष्ण कवि की टीका जो कवित्तों में है।
2. हरिप्रकाश टीका
3. लल्लूजी लाल की लालचंद्रिका
4. सरदार कवि की टीका
5. सुरति मिश्र की टीका

इनके अतिरिक्त **'बिहारी'** नामक ग्रंथ में **पंडित अम्बिकादत्त व्यास** ने बिहारी के दोहों का भाव पल्लवन रोला छंद में किया है। पंडित परमानंद ने **'श्रृंगार सप्तशती'** नाम से बिहारी के दोहों का अनुवाद संस्कृत में किया है। मुंशी देवी प्रसाद ने बिहारी के दोहों का अनुवाद उर्दू के शेरों में किया है। **'बिहारी सतसई'** का पाठानुसंधान एवं संपादन ब्रजभाषा मर्मज्ञ बाबू जगन्नाथदास रत्नाकार ने **'बिहारी रत्नाकार'** नाम से किया है।

मुक्तक कविता में जो गुण होने चाहिए, वे सभी बिहारी सतसई में उपलब्ध होते हैं। "मुक्तक में प्रबंधन के समान रस की धारा नहीं रहती, अपितु इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं कि हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना गुलदस्ता है।" आचार्य शुक्ल ने यह कहकर मुक्तक काव्य की कसौटी का निर्धारण कर दिया है तथा बिहारी सतसई इस कासौटी पर पूर्णत: खरी उतरती है। वे आगे पुन: कहते हैं–'जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समास शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही यह मुक्तक की रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्णरूप से विद्यमान थी।'

बिहारी सतसई के दोहों की प्रशंसा करते हुए किसी ने कहा है–

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगैं बेधैं सकल सरीर।।

नोट

बिहारी की रस व्यंजना का पूर्ण वैभव उनकी हाव-अनुभाव योजना में दिखाई पड़ता है। अनुभावों और हावों की ऐसी सुंदर योजना कोई अन्य शृंगारी कवि नहीं कर सकता है। कुछ दोहे उल्लेखनीय हैं–

1. *बतरस लालय लाल की मुरली धरी लुकाइ।*
   सौंह करै भौंहनु हंसै कहै नटि जाइ।

2. *त्रिबली नाभि दिखाइ कर सिर ढकि सकुचि समाहि।*
   गली अली की ओट कै चली भली विधि चाहि।।

3. *नासा मोरि नचाई दृग करी ककाकी सौंह।*
   कांटे सी कसकै हिए गड़ी कंटीली भौंह।।

4. *ललन चलन सुनि पलन में अंसुआ झलकै आइ।*
   भई लखाई न सखिन्ह हू झूठे ही जमुहाइ।।

बिहारी की कविता में भक्ति और नीति का भी सम्यक् समावेश हुआ है। उनके नीति संबंधी कुछ प्रसिद्ध दोहे इस प्रकार हैं–

1. *नर की अरु नल नीर की गति एकै करि जोय।*
   जेतो नीचौ ह्वै चलै तेतो ऊँचो होय।।

2. *तंत्रीनाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।*
   अन बूड़े-बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग।।

3. *आवत जात न जानियतु तेजहि तजि सियरानु।*
   घरह जंवाई लौं घट्यो खरौ पूस दिनमानु।।

बिहारी की भक्ति भावना में भी उक्ति वैचित्र्य एवं आलंकारित का समावेश है। उन्होंने लगभग 70 दोहे भक्ति के लिखे हैं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं–

1. *मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय।*
   जा तन की झांई परै स्यामु हरित दुति होय।।

2. *मोर मुकुट कटि काछनी कर मुरली उरमाल।*
   इहि बानक मो मन बसौ सदा बिहारीलाल।।

3. *करौ कुबत जगु कुटिलता तजौं न दीन दयाल।*
   दुखी होहुगे सरल हिय बसत त्रिभंगीलाल।।

बिहारी की अलंकार योजना भी उच्चकोटि की है। असंगति और विरोधाभास अलंकारों की छटा निम्न दोहों में विद्यमान हैं–

1. *दृग अरुझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।*
   परति गांठि दुरजन हिए इर्द नई यह रीति।।

2. *या अनुरागी चित्त की गति समझै नहिं कोय।*
   ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याम रंग त्यों-त्यों उज्जलु होय।।

बिहारी के संबंध में यह कहा जाता है कि उन्होंने 'गागर में सागर भर दिया है'। कम शब्दों में अधिक भाव व्यक्त कर सकने की क्षमता को गागर में सागर भरना कहा जाता है। बिहारी के दोहों में व्यंजना सौंदर्य भी विद्यमान है यथा–

स्वारथु सुकृतु न श्रम वृथा देखि विहंग विचारि।
बाज पराए पानि परि तूं पच्छीनु न मारि।।

नोट

बिहारी के विरह वर्णन में शरीरिक कृशता एवं विरहताप का अतिशयोक्ति पूर्ण चित्रण हुआ है। आचार्य शुक्ल के अनुसार यह विरह-वर्णन कहीं-कहीं मजाक तक पहुँच गया है। ऐसे कुछ वर्णन निम्न दोहों में हैं–

1. *मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय।*
   जा तन की झांई परै स्यामु हरित दुति होय।।
2. *मोर मुकुट कटि काछनी कर मुरली उरमाल।*
   इहि बानक मो मन बसौ सदा बिहारीलाल।।
3. *करौ कुबत जगु कुटिलता तजौं न दीन दयाल।*
   दुखी होहुगे सरल हिय बसत त्रिभंगीलाल।।

बिहारी दूरारूढ़ कल्पना के कवि माने जाते हैं। शुक्लजी के अनुसार बिहारी की कृति का जो मूल्य आंका गया है, उकसा कारण उनका शिल्प विधान एवं शब्दों की कारीगरी है, किंतु जो लोग भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर मग्न होना चाहते हैं, उनका संतोष बिहारी से नहीं हो सकता। बिहारी का ब्रजभाषा पर असाधारण अधिकार था। शब्द और वर्ग उनके दोहों में नगों की भाँति जड़े हैं।

10.3.5 देव (1673-1767 ई.)

कवि देव का पूरा नाम देवदत्त था तथा ये इटावा के रहने वाले थे। इनका जन्म 1673 ई. में हुआ था तथा इन्होंने अनेक राजा-रजवाड़ों का आश्रय प्राप्त किया था। इनकी मृत्यु अनुमानत: 1767 ई. के आसपास हुई। देव को कोई अच्छा उदार आश्रयदाता नहीं मिला। जहाँ ये टिककर रहते, परिणामत: ये बराबर अपना आश्रयदाता बदलने को विवश हुए।

देव ने प्रचुर मात्रा में ग्रंथों की रचना की, जिनकी संख्या कुछ लोग 72 बताते हैं, किंतु अभी तक केवल 15 ग्रंथ ही उपलब्ध हुए हैं जिनके नाम हैं–

1. **भाव विलास**–इस ग्रंथ को इन्होंने औरंगजेब के बड़े पुत्र आजमशाह को सुनाया था, जो हिंदी कविता के प्रेमी थे।
2. **अष्टयाम**–यह ग्रंथ अजयशाहू को सुनाया था।
3. **भवानी विलास**–भवानीदत्त वैश्य के नाम पर लिखा गया।
4. **कुशल विलास**–फफूंद रियासत के राजा कुशल सिंह के नाम पर लिखा।
5. **प्रेम चंद्रिका**–राजा उद्योत सिंह वैस के लिए लिखी।
6. **जाति विलास**–भिन्न-भिन्न प्रांतों एवं जातियों की स्त्रियों का वर्णन।
7. **रस विलास**–राजा भोगीलाल के आश्रय में लिखा।
8. **राग रत्नाकर**–संगीत विषयक लक्षण ग्रंथ है।
9. **देवशतक**–अध्यात्म विषयक ग्रंथ है जिसमें जीवन और जगत की असारता का चित्रण है।
10. **देवचरित्र**–कृष्ण के जीवन पर आधारित प्रबंध काव्य है।
11. **शब्द रसायन**–लक्षण ग्रंथ है तथा सर्वांग निरूपक रीति ग्रंथ है।
12. **सुजान विनोद**–सुजानमणि के आश्रय में लिखा।
13. **सुख सागर तरंग**–रस, नायिकाभेद आदि से सम्बद्ध कवित्त, सवैयों का संग्रह।
14. **देवमाया प्रपंच**–प्रबोध चंद्रोदय नामक संस्कृत नाटक का पद्यानुवाद।
15. **प्रेमतरगं**–प्रेम के महात्म्य का वर्णन।

नोट

देव एक समर्थ कवि एवं प्रतिभा संपन्न आचार्य के रूप में समादूत रहे हैं। आचार्यत्व की अपेक्षा देव का कवित्व अधिक सशक्त है। इनके काव्य का मूल विषय शृंगार रहा है। इनकी रचनाओं में कल्पना की चारूता और अर्थ वैभव का सुंदर सामंजस्य हुआ है। विषयानुकूल शब्द चयन, आनुप्रासिकता के कारण इनकी अभिव्यंजना शैली भी प्रशंसनीय बन पड़ी है। कहीं-कहीं शब्दों की अनावश्यक तोड़-मरोड़ एवं व्याकरणिक अव्यवस्था के बावजूद उनकी कविता सरस, भावपूर्ण एवं हृदयग्राही बन पड़ी है। देव की कविता का उदाहरण प्रस्तुत है।

धार में धाय धंसी निरधार ह्वै,
जाय फंसी उकसी न उघेरी।
री अगराय गिरी गहरी गाहि,
फेरे फिरी न घिरी नहिं घेरी।।
देव कहू अपनो बस न रस,
लालच लाल चितै भई चेरी।
बेगि ही बूहि गईं पखियाँ अँखियाँ,
मधु की मखियाँ भईं मेरी।।

देव की भाषा प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा है। 'रीतिकाल के कवियों में ये बड़ी प्रगल्भ और प्रतिभा संपन्न कवि थे' ऐसा शुक्ल जी का मत है। इनका एक प्रसिद्ध सवैया इस प्रकार है–

सांसन ही में समीर गयो अरु,
आंसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपना अरु,
भूमि गई नतु की तनुता करि।।
'देव' जियै मिलिबेई की आसकै,
आसहु पास अकास रहयौ भरि।
जा दिन तैं मुख फेरि हरै हँसि,
हेरि हियेजु लियो हरिजू हरि।।

सवैये का अर्थ यह है कि वियोग में उस नायिका के शरीर को संघटित करने वाले पंचभूत धीरे-धीरे निकलते जा रहे हैं। **'वायु'** दीर्घ विश्वासों के द्वारा निकल गई, **जल** तत्व आँसुओं में बह गया, **तेज** भी न रह ग या क्योंकि शरीर कांतिहीन हो गया। **पार्थिव** (पृथ्वी) तत्व के निकल जाने से शरीर क्षीण हो गया, अब तो उसके चारों ओर आकाश ही आकाश रह गया है। अर्थात् चारों ओर शून्य ही दिखाई पड़ रहा है। जिस दिन से श्रीकृष्ण ने उसकी ओर मुँह फेर के देखा है और मंद-मंद हँसकर उसके मन को हर दिया है, उसी दिन से उसकी यह दशा हो गई है।

अब तो जीवन में सर्वत्र शून्य व्याप्त है, ऐसा कहते हुए विरह की जो व्यंजना यहाँ की गई है वह अत्यंत मार्मिक बन पड़ी है। देव की विरह विषयक ये उक्तियाँ बिहारी की उन उक्तियों से कहीं अधिक सबल एवं सटीक हैं जिनमें विरहिणी के शरीर के पास ले जाने पर गुलाबजल सूख जाता है और उसके विरह ताप से बचने के लिए माघ की रात्रि में गीले वस्त्र पहनकर सखियाँ पास जा पाती हैं। निश्चय ही देव बिहारी से कुछ मामलों में श्रेष्ठ हैं।

देव के रीतिग्रंथों पर मम्मट के काव्यप्रकाश, आचार्य विश्वनाथ के साहित्यदर्पण, भानुदत्त की रसमंजरी, केशव की रसिकप्रिया और रहीम के 'बरवै नायिका भेद' का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। शब्द शक्ति विवेचन में वे अभिधा को उत्तम मानते हैं तथा तात्पर्य नाम एक चौथी शब्दशक्ति की उद्भावना करते हैं। उनके अनुसार–

अभिधा उत्तम काव्य है मध्य लक्षणाहीन।
अधम व्यंजना रस-विरस उलटी कहत नवीन।।

नोट

रस क्षेत्र में देव ने 'छल' नामक नवीन संचारी भाव की उद्‌भावना की किंतु आचार्य शुक्ल के अनुसार 'छल' का समाहार 'अवहित्था' नामक संचारी भाव के अंतर्गत हो जाता है। नायिका भेद का विवेचन भी देव ने अत्यंत सूक्ष्म ढंग से किया है। इस विवेचन पर भानुदत्त की 'रसमंजरी' का प्रभाव साफ झलकता है। अलंकार निरूपण में वे भामह एवं दंडी के ग्रंथों से प्रभावित हैं। देव 'रसवादी' आचार्य थे तथा इसका निर्वाह उन्होंने अपनी काव्य रचनाओं में किया भी है। रीति निरूपण की दृष्टि से कवि देव उतने महत्त्वपूर्ण नहीं है जितने कवि के रूप में हैं। उनकी कवित्व शक्ति की तुलना कुछ विद्वानों ने बिहारी से करते हुए हिंदी क्षेत्र में एक विवाद खड़ा कर दिया कि देव बड़े या बिहारी? इस विषय के पक्ष-विपक्ष में अनेक पुस्तकें तक लिखी गईं।

10.3.6 घनानंद (1689-1739 ई.)

घनानंद रीतिमुक्त धारा के शृंगारी कवि हैं। इसका जन्म 1689 ई. और मृत्यु नादिरशाह के आक्रमण के समय 1739 ई. में हुई। ये दिल्ली के बादशाह **मुहम्मदशाह** के यहाँ **मीर मुंशी** थे और जाति के कास्थ थे। ये **'सुजान'** नामक वेश्या से प्रेम करते थे। एक दिन दरबार के कुचक्रियों ने बादशाह से कहा कि मीर मुंशी साहब गाते बहुत अच्छा हैं। जब बादशाह ने इन्हें गाना सुनाने को कहा तो ये टालमटोल करने लगे। तब लोगों ने कहा कि ये इस तरह न गाएँगे, यदि इनकी प्रेमिका 'सुजान' कहे तब गाएँगे। वेश्या बुलाई गई और तब घनानंद ने उसकी ओर मुँह करके और बादशाह की ओर पीठ करके गाना सुनाया। बादशाह इनके गाने पर तो प्रसन्न हुआ किंतु इनकी बेअदबी पर इतना नाराज हुआ कि उसने इन्हें शहर से बहार निकल जाने का हुक्म दे दिया। जब इन्होंने सुजान से अपने साथ चलने को कहा तो उसने इनकार कर दिया। इस पर इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया और ये वृंदावन आकर निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव हो गए। नादिरशाह के आक्रमण के समय हुए कत्लेआम में ये मारे गए। लोगों ने नादिरशाह के सैनिकों से कहा कि वृंदावन में बादशाह का मीर मुंशी रहता है उसके पास बहुत-सा माल होगा। सिपाहियों ने इन्हें जा घेरा और उनसे 'ज़र, ज़र, ज़र' (अर्थात् धन, धन, धन) कहा तो इन्होंने शब्द को उलटकर 'रज, रज, रज' कहकर तीन मुट्ठी धूल उन पर फेंकी। सैनिकों ने क्रोध से इनका हाथ काट डाला और इनकी मृत्यु हो गई।

घनानंद की कविता में 'सुजान' शब्द का बारंबार प्रयोग हुआ है जो कहीं तो कृष्णवाची है तो कहीं 'सुजान' नामक उस वेश्या के लिए है जो इनकी प्रेयसी थी। घनानंद के लिखे पाँच ग्रंथों का पता चलता है–**1. सुजान सागर, 2. विरहलीला, 3. लोकसार, 4. रसकेलिवल्ली,** और **5. कृपाकांड**। आचार्य शुक्ल के अनुसार, इसके अतिरिक्त इनके कवित्त इनके कवित्त और सवैयों के फुटकर संग्रह भी मिलते हैं जिनमें 150 से लेकर 400 तक छंद संकलित हैं। डॉ. नगेंद्र के अनुसार, घनानंद के कुछ उपलब्ध कवित्त-सवैयों की संख्या 752 है, पदों की संख्या 1,057 तथा दोहे-चौपाइयों की संख्या 2,354 है।

घनानंद के विषय में अन्य उल्लेखनीय तथ्य इस प्रकार हैं–

1. प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबांदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।
2. भाषा पर जैसा अचूक अधिकार घनानंद का था वैसा और किसी कवि का नहीं।
3. घनानंद उन विरले कवियों में हैं जो भाषा की लाक्षणिक पदावली की शक्ति से परिचित हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसर–"भाषा के लक्षण एवं व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।"
4. घनानंद ने यद्यपि संयोग और वियोग दोनों का चित्रण किया है तथापि इनका वियोग वर्णन अति प्रसिद्ध हैं। घनानंद के वियोग वर्णन अति प्रसिद्ध हैं। घनानंद के वियोग वर्णन में बिहारी की तरह बाहरी ताप की नाप-जोख नहीं है अपितु जो कुछ हलचल है, वह भीतर की है।
5. घनानंद अंतर्वृत्तियों के निरूपक कवि हैं। वियोग में हृदय अंतर्मुखी हो जाता है। विरह वेदना में हृदय की पीड़ा, छटपटाहट एवं कसक कितनी बढ़ जाती है, उसका पता घनानंद के कवित्त सवैयों में प्रमुखता से चलता है।

6. लाक्षणिक मूर्तिकला एवं प्रयोग वैचित्र्य की जो छटा घनानंद की भाषा में दिखाई पड़ती है, वह बाद में आधुनिक काल की छायावादी कविता में ही उपलब्ध होती है, अन्यत्र नहीं।

घनानंद की कविता के कुछ सरस उदाहरण प्रस्तुत हैं–

नोट

1. *अति सूधो सनेह को मारग हैं,*
   जहं नेकु सयानप बांक नहीं।।
   तहाँ सांचे चले तजि आपुनपौ,
   झिझकें कपटी जो निसाँक नहीं।।
   घनआनंद प्यारे सुजान सुनौ,
   इत एक तै दूसरों आँक नहीं।।
   तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला,
   मनु लेहु पै देहु छटाँक नहीं।।

2. *परकारज देह कों धारैं फिरौ,*
   परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
   निधि नीर सुधा के समान करौ,
   सबही विधि सुंदरता सरसौ।
   घनआनंद जीवनदायक हौ,
   कबौं मेरियौ पीर हिये परसौ।।
   कबहूं वा विसासी सुजान के आंगन,
   मो अंसुवान कौं लै बरसौ।।

3. *एरे वीर पौन तेरो सबै और गौन वीरी*
   तो सो और कौन मनै ढरकौंही बानि दै।
   जगत के प्रान छोटे-बड़े सौ समान, घन
   आनंद-विधान-सुखदान दुखियानि दै।।
   जान उजियारे गुनभारे अति मोहि प्यारे
   अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
   विरह बिधा की मूरि, आँखिन में राखौं पूरि
   धूरि तिन पांयन की हा-हा नैकु आनि दै।।

घनानंद को स्वच्छंदतावादी काव्यधारा का कवि इसलिए कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने रीति की बंधी-बंधाई परिपाटी का अनुकरण न करके हृदय की स्वच्छंद वृत्तियों पर काव्य रचना की।

10.3.7 पद्माकर (1753-1833 ई.)

रीतिकाल के कवियों में पद्माकर का नाम आदर से लिया जाता है। बिहारी के बाद ये सर्वाधिक लोकप्रिय कवि रीतिकाल के हैं। इनकी जैसी लोकप्रियता बहुत कम कवियों को प्राप्त होती है। पद्माकर के पिता मोहनलाला भट्ट एक महान विद्वान एवं कवि थे। पद्माकर का जन्म बाँदा में 1753 ई. में हुआ और 80 वर्ष की आयु पाकर 1833 ई. में इनका स्वर्गवास हुआ।

पद्माकर किसी एक स्थान पर टिककर नहीं रह पाए। हिम्मत बहादुर अवध के बादशाह की सेना बड़े अधिकारी थे। उनकी वीरता पर मुग्ध होकर पद्माकर ने **'हिम्मत बहादुर विरुदावली'** की रचना की। यह वीररस की फड़कती हुई रचना है। सतारा के महारा रघुनाथ राव (राघोबा) से इन्हें एक हाथी, एक

नोट

लाख रुपया और दस गाँव प्राप्त हुए थे। तत्पश्चात् पद्माकर जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के यहाँ रहे। उनके पुत्र जगत सिंह के संरक्षण में रहकर पद्माकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ **'जगद्विनोद'** की रचना की। यहीं पर इन्होंने अपने अलंकार ग्रंथ **'पद्माभरण'** की रचना की। महाराजा जगतसिंह के स्वर्गवास के बाद ये ग्वालियर के महाराज दौलतराव सिंधिया के दरबार में भी रहे। **'हितोपदेश' का भाषा अनुवाद** इन्होंने ग्वालियर में रहकर किया। बाद में ये ग्वालियर से बूँदी गए और वहाँ कुछ काल तक रहने के बाद बाँदा आ गए। अंतिम समय में ये रोगग्रस्त रहते थे। तभी इन्होंने **'प्रबोधपचासा'** की रचना की। अंतिम समय निकट जानकर ये कानपुर में गंगातट पर रहने लगे और वहीं इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **गंगालहरी** की रचना की।

इस प्रकार पद्माकर के लिखे ग्रंथ निम्नवत् हैं।

1.	हिम्मत बहादुर विरुदावली	–	वीर रस प्रधान चरित काव्य
2.	प्रताप सिंह विरुदावली	–	चरित काव्य
3.	कलि पच्चीसी	–	कलियुग का वर्णन
4.	जगद्विनोद	–	अलंकार ग्रंथ (लक्षण ग्रंथ)
5.	पद्माभरण	–	अलंकार ग्रंथ (लक्षण ग्रंथ)
6.	प्रबोध पचासा	–	वैराग्य निरूपण
7.	गंगा लहरी	–	गंगा माहात्म्य

'जगद्विनोद' में छः प्रकरण और 731 छंद हैं। शृंगार रस एवं नायिका भेद का विशद विवेचन किया गया है। काव्यांगों के लक्षण दोहों में हैं तथा उदाहरण कवित्त-सवैयों में हैं। इस ग्रंथ की रचना के लिए आधार सामग्री भानुदत्त की रजमंजरी, केशव की रसिकप्रिया और विश्वनाथ के साहित्यदर्पण से ली गई है। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि लक्षण सुबोध हैं तथा उदाहरण सरस हैं।

पद्पाकर की गणना अच्छे कवियों में होती है। उनकी रचनाओं में कवित्व का पूर्ण उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। मधुर और स्वाभाविक कल्पना, सजीव मूर्ति विधान एवं उपयुक्त शब्द चयन के कारण इनकी कविता का भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों की सशक्त बन पड़े हैं। भाषा की प्रवाहमहयता एवं विषय की सरसता के कारण पद्माकर रीतिकाल के श्रेष्ठ कवियों में स्थान पाते रहे हैं। इनका होली विषयक एक प्रसिद्ध सवैया निम्न प्रकार है–

फागु की भीर अभीरन में गहि,
गोविंद लै गई भीतर गोरी।
भाय करी मन की पद्माकर,
ऊपर नाय अबीर की झोरी।।
छीनि पितंबर कम्मर तें सु,
विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।।
नैन नचाय कही मुसकाय लला,
फिरि आइयो खेलन होरी।।

पद्माकर की कविता में आनुप्रासिकता के साथ-साथ कोमल भाव तरंग, मधुकल्पना, साफ-सुथरी ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है। लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग से वे अनुभूति को सशक्त रूप से प्रस्तुत कर देते हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

1. *एहो नंदलाल! ऐसी व्याकुल परी है बाल,*
हाल ही चलौ तौ चलौ जोरे जुरि जायगी।
कहैं पद्माकर नहीं तो ये झकोरे लगे,
और लौं अचाका बिनु घोरे घुरि जायगी।

नोट

सीरे उपचारन घनेरे घनसारन सों,
देखत ही देखौ दामिनी लौं दुरि जायगी।
तौही लगि चैन जौ लौं चेतिहैं न चंदमुखी,
चेतैगी कहूं तौ चाँदनी में चुरि जायगी।

2. *मोहि लखि सोवत विथारिगो सुबेनी बनी,*
तोरिगो हिए को हार छोरिगो सुगैया को।
कहैं पद्माकर त्यों घोरिगों घनेरो दुख
बोरिगो विसासी आज लाज ही की नैया को।।
अहित अनैसा ऐसो कौन उपहास यातैं,
सोचन खरी मैं परी जोवति जुन्हैया को।
बूझिहैं चबैया तब कैहौं कहा, दैया!
इत पारिगो को मैया! मेरी सेज पै कन्हैया को।।

रीतिकाल के कवियों में से कुछ कवि ही ऐसे हैं जिन्होंने लोकजीवन को अपना काव्य विषय बनाया। इस प्रकार के कवि अधिकतर वे हैं जो नीतिकार एवं सूक्तिकार के रूप में प्रसिद्ध हुए। ऐसे कवियों में प्रमुख हैं–वृंद कवि, गिरधर कविराय, दीनदयाल गिरि, वेताल कवि आदि।

वृंद कवि (1704 ई.) में 'वृंद सतसई' नामक नीतिग्रंथ में सात सौ दोहों की रचना की। इनके दोहे अत्यंत लोकप्रिय हैं तथा कभी-कभी तो लोग इनके दोहों को बिहारी के दोहे समझ लेते हैं। इनके दो दोहे प्रस्तुत हैं–

फीकौ पै नीकौ लगै, कहिए समय बिचारि।
सबको मन हरषित करै, ज्यों विवाह में गारि।।
भले बुरे सब एक सम जौ लौं बोलत नांहिं।
जानि परत है काग पिक ऋतु वसंत के माहिं।।

बैताल चरखारी (बुंदेलखंड) के राजा प्रतापसिंह (रसिक विक्रम साहि के नाम से प्रसिद्ध) के सभाकवि थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में विक्रम को संबोधित करते हुए नीतिकाव्य की रचना की। उनका एक कवित्त प्रस्तुत हैं–

राजा चंचल होय मुकुल को सर करि लावै।
पंडित चंचल होय सभा उत्तर दै आवे।।
हाथी चंचल होय समर में सूँड़ि उठावै।
घोड़ा चंचल होय झपट मैदान दिखावै।।
ये चारों चंचल भले राजा, पंडित, गज, तुरी।
बैतोल कहैं विक्रम सुनौ तिरिया चंचल अति बुरी।।

खेतीबाड़ी से संबंधित अनेक कहावतें **घाघ** ने कहकर लोकजीवन का चित्रण में किया है। जीवन के निगूढ़तम रहस्य को व्यावहारिक जीवन में नीति के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

रीतिकाल के नीतिकारों में दीनदयाल गिरि (1802 ई.) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लौकिक विषयों पर लिखी इनकी अन्योक्तियाँ बहुत प्रसिद्ध रही हैं। इनके ग्रंथ का नाम है–**'अन्योक्ति कल्पद्रुम'**। क्रूर व्यक्ति कोमल नहीं हो सकता इसका उल्लेख उन्होंने निम्न पंक्तियों में किया है–

केतौ सोम कला करौ करौ सुधा को दान।
नहीं चंद्रमणि जो द्रवै यह तेलिया पखन।।
बरनै दीन दयाल चंद्र तुम ही चित चेतौ।
क्रूर न कोमल होहिं कला जौ कीजै केतौ।।

गिरधर कविराय की कुंडलिया भी बहुत प्रसिद्ध है। इनकी एक नीतिपरक कुंडलिया निम्नवत् है–

रहिए लटपट काटि दिन बरु घामहिं में सोय।
छाँह न बाकी बैठिए जो तरु पतरो होय।।
तो तरु पतरो होय एक दिन धोखा दैहै।
जा दिन बहै बयारि टूटि तब जर से जैहै।
कह गिरधर कविराय छाँह मोटे की कहिए।
पाता सब झरि जाए तऊ छाया मैं रहिए।।

रीतिकाल के अन्य कवियों ने लोकजीवन की उपेक्षा की है। दरबारी वातावरण, श्रृंगारप्रियता एवं रसिकता के कारण उन्हें साधारण जनता के दुख-दर्द की न तो अनुभूति थी और ही जनता से उनका कोई जुड़ाव था, इसलिए रीतिकाल में लोकजीवन उपेक्षित ही रहा है। त्यौहारों का कुछ चित्रण अवश्य पद्माकर जैसे कवियों ने किया है। इन्हें तो सर्वज्ञ नायिका की रस भरी चितवन, उन्नत उरोज एवं सुंदर गात ने ही उद्वेलित किया अत: लोकजीवन के सरस चित्रण में इनकी वृत्ति नहीं रम सकी।

10.4. सारांश (Summary)

- रामचंद्रिका से केशव को संवाद योजना में सर्वाधिक सफलता मिली है। संवादों में पात्रानुकूल क्रोध, उत्साह आदि की सुंदर व्यंजन है। केशव की रचनाओं में सूर, तुलसी जैसी सरसता और तन्मयता चाहे न हो पर काव्यांगों का विस्तृत परिचय कराकर उन्होंने आगे के लिए मार्ग खोला।
- भूषण की ख्याति आचार्य के रूप में उतनी नहीं है जितनी वीररस के कवि के रूप में है। युगधर्म के अनुरूप उन्होंने अलंकार विषयक ग्रंथ अवश्य लिखा तथापि मूलत: वे ओजस्वी कवि ही हैं। उनकी भाषा ओजपूर्ण तो हैं, किंतु वह अव्यवस्थित है। उनकी कविता में राष्ट्रीयता विद्यमान है। वे भारतीय संस्कृति के रक्षकों की प्रशंसा में छंद लिखने वाले कवि के रूप में समग्र हिंदू जनता के द्वारा सराहे गए कवि हैं।
- बिहारी दूरारूढ़ कल्पना के कवि माने जाते हैं। शुक्लजी के अनुसार बिहारी की कृति का जो मूल्य आंका गया है, उसका कारण उनका शिल्प विधान एवं शब्दों की कारीगरी है, किंतु जो लोग भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर मग्न होना चाहते हैं, उनका संतोष बिहारी से नहीं हो सकता। बिहारी का ब्रजभाषा पर असाधारण अधिकार था। शब्द और वर्ग उनके दोहों में नगों की भाँति जड़े हैं।
- देव 'रसवादी' आचार्य थे तथा इसका निर्वाह उन्होंने अपनी काव्य रचनाओं में किया भी है। रीति निरूपण की दृष्टि से कवि देव उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितने कवि के रूप में हैं। उनकी कवित्व शक्ति की तुलना कुछ विद्वानों ने बिहारी से कते हुए हिंदी क्षेत्र में एक विवाद खड़ा कर दिया कि देव बड़े या बिहारी? इस विषय के पक्ष-विपक्ष में अनेक पुस्तकें तक लिखी गईं।
- घनानंद को स्वच्छंदतावादी काव्यधारा का कवि इसलिए कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने रीत की बंधी-बंधाई परिपाटी का अनुकरण न करके हृदय की स्वच्छंद वृत्तियों पर काव्य रचना की।
- रीतिकाल के अन्य कवियों ने लोकजीवन की उपेक्षा की है। दरबारी वातावरण, श्रृंगारप्रियता एवं रसिकता के कारण उन्हें साधारण जनता के दुख-दर्द की न तो अनुभूति थी और न ही जनता से उनका कोई जुड़ाव था, इसलिए रीतिकाल में लोकजीवन उपेक्षित ही रहा है।

10.5. शब्दकोश (Keywords)

अव्यवस्थित – सब कुछ गड़बड़ होना, ठीक ढंग से नहीं होना
उच्चकोटि – बहुत उत्तम, बहुत बढ़िया
विवाद – झगड़ा

नोट

10.6. अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. संपूर्ण इतिहास का विभाजन कितने कालखंडों में किया गया है।
2. 'आचार्य शुक्ल एक समर्थ समीक्षक व इतिहासकार थे।' इस कथन का विवेचन कीजिए।
3. डॉ. गणपति चंद्र गुप्त ने मध्यकालीन हिंदी साहित्य की काव्य परंपराओं का उल्लेख किस प्रकार किया है?
4. 10वीं सदी के मध्य से अब तक के आधुनिक काल का वर्णन कीजिए।
5. **रिक्त स्थानों की पूर्ति करें** (Fill in the blanks) :
   1. केशव द्वारा किया गया अलंकार विवेचन यद्यपि ..... एवं ..... है।
   2. केशव केवल उक्ति वैचित्र्य एवं ..... के प्रेमी थे।
   3. मतिराम सतसई के ..... भी बिहारी सतसई की टक्कर के हैं।
6. **बहुविकल्पीय प्रश्न** (Multiple Choice Questions) :
   1. छत्रसाल दशक में महाराज छत्रसाल की वीरता का वर्णन है तो शिवा बावनी में .... का बखान है।
      (क) साहूजी महाराज (ख) महाराणा प्रताप
      (ग) शिवाजी (घ) उपरोक्त में से कोई नहीं
   2. बिहारी सतसई की पचासों टीकाएँ लिखी गइ जिनमें से ..... टीकाएँ अति प्रसिद्ध हैं।
      (क) आठ-दस (ख) चार-पाँच
      (ग) दो-तीन (घ) पाँच-छह
   6. अलंकार निरूपण में देन भामह एवं दंडी के ..... ग्रंथों से प्रभावित है।
      (क) काव्यों (ख) मुहावरों
      (ग) ग्रंथों (घ) उपरोक्त में से कोई नहीं
7. **निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य बताएँ–**
   1. भाषा पर जैसा अचूक अधिकार घनानंद का था वैसा और किसी कवि का नहीं।
   2. तत्पश्चात् पद्माकर जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के यहाँ नहीं रहे।
   3. लौकिक विषयों पर लिखी इनकी अन्योक्तियाँ बहुत प्रसिद्ध रही हैं।

10.7. संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें
4. हिंदी भाषा का उद्भव और विकास – गुणानंद जुयाल
3. हिंदी भाषा – कैलास चंद्र भाटिया
1. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – राजकुमार वर्मा
2. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य – बेचन